पुष्पदन्तप्रणोतम्

महिम्नस्तोत्रम्

(मधुसूदनीव्याख्याहिन्दीभाषानुवादयुतम्)

अनुवादक

श्री १००८ स्वामी रघुनाथगिरि महामण्डलेश्वर

शिवरामदास गुलाटी ग्रन्थमालातृतीय पुष्प

॥ श्रीः ॥

श्रीपुष्पदन्तविरचितम्

महिम्नस्तोत्रम्

श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीप्रणीत
शिवविष्ण्वर्थव्याख्यायुतम्

तच्च

वेदान्तायुर्वेदसांख्ययोगाचार्य श्रीस्वामिरघुनाथगिरिमहामण्डलेश्वरकृत
शिवविष्ण्वर्थप्रकाशाख्यहिन्दीभाषानुवादेन युतम्

प्रकाशक :-
श्री गिरधरगोपाल गुलाटी
५३, लीडर रोड, इलाहाबाद

तृतीय संस्करण २००० हजार
विक्रमी सम्वत् २०५७, व्यास पूर्णिमा २०००
(सर्वाधिकार लेखक के अधीन है)

भगवान् हरिहर

भूतिभूषितदेहाय द्विजराजेन राजते ।
एकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च ।।

गीता प्रेस के सौजन्य से

समर्पण

जिनके चरणारविन्द युगल की शीतल छाया का आश्रय
लेकर मोक्षसाम्राज्य की दिशा में अग्रसर हुआ
उन
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य वर्य ब्रह्मलीन श्री १०८
एतवारगिरि महाराज गुरुदेव के करकमलों में
यह महिम्नस्तोत्र का तृतीय संस्करण
सभक्ति समर्पित।

स्वामी रघुनाथगिरि

दो शब्द

चार सौ वर्ष पूर्व श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य मधुसूदन सरस्वती बड़े उद्भट विद्वान् हुए थे। इन्होंने काशीनगरी को अपना निवास स्थल चुना था। इन्होंने अद्वैत सिद्धि आदि ९ (नव) ग्रन्थ लिखा था। जिनमें अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त में परमश्रेष्ठ है। इन्होंने इस महिम्नसतोत्र पर हरिहर अर्थ द्योतक सुन्दर अर्थ करते हुए व्याख्या में अद्वैत की पुष्टि की है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने आगे के विद्वानों को इस स्तोत्र पर टीका के आधार से सार सङ्ग्रह कर व्याख्या के निषेध के लिए शपथ भी रखा है। सम्भवतः इसी कारण से किसी भी विद्वान् ने इस पर कुछ भी लिखने का साहस न किया।

एक यति के द्वारा की गई व्याख्या का दूसरे यति ने भाषा अनुवाद कर इस ग्रन्थ के कलेवर का परिवर्तन कर दिया है। श्री स्वामी रघुनाथगिरि जी महाराज काशी नगरी के मूर्धन्य विद्वानों में हैं। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। सरलता, लोकोपकार भावाना आदि इनके भीतर स्वाभाविक एवं अनुकरणीय है। स्वामी जी भारत विख्यात उच्चकोटि के सन्त हैं। आचार्य शिरोमणि वेद-वेदाङ्गादि विद्या परिष्कृत मानस होते हुए समाधिनिष्ठ प्रकृष्ट वक्ता हैं। प्रातः स्मरणीय स्वामी जी महाराज का भाषानुवाद भी सुन्दर शैली में है। क्योंकि मौलिक तत्त्व की सुरक्षा करते तलस्पर्श कर व्याख्याकार की भावना का स्पष्टीकरण सुन्दर है। इस प्रकार का भाषानुवाद भी साधारण सूझ-बूझ का कार्य नहीं है। महाराज श्री के जीवन का प्रत्येक क्षण अध्यात्मान्वेषण लोकसंग्रह निमित्त प्रचारोन्मुख रहता है। महाराज श्री ने

हरिद्वार में मोतीचूर चुङ्गी के पास एकान्त शान्त स्थान में आश्रम निर्माण का कार्य उठाया है। यह आश्रम केवल गद्दी चलाने के लिए नहीं है। किन्तु महान् वैदिक धर्म की रक्षा के लिए है। वर्तमान में दूषित राजनीति एवं पाखण्ड मार्गों द्वारा जनता का अध्यात्म जीवन में बाह्याचार लक्ष्य विहीन तथा कदाचारमय बनता जा रहा है। इससे अध्यात्म जगत् तथा आचार के शोधन की आवश्यकता है। स्वामी जी का प्रचार एवं आश्रम उसी कार्य में संलग्न हैं।

महामहिम महाराज श्री ने महिम्नस्तोत्र के द्वितीय संस्करण में हमें दो शब्द लिखने का सुअवसर देकर कृतार्थ कर दिया है। मैं अपने को धन्य मानता हूँ और भगवान् शङ्कर के रूप शङ्करस्वरूप श्री स्वामी जी के पावन पादपद्मों में यह पत्र पुष्प सश्रद्ध समर्पित करता हूँ।

भीक्षासनोऽपि भगवंस्त्वमकिञ्चनोऽपि,
जीर्णश्मशान निलयोऽपि दिगम्बरोऽपि।
किं वा परं वरद घस्मर भस्मरूक्ष-
गात्रोऽपि सन् मम विभुः प्रतिजन्म भूयाः।।

आचार्य सूर्यदत्त शास्त्री
रत्नत्रय
पटना सिटी।

भूमिका

जब मनुष्य अपने समस्त छलबल, बुद्धिबल से पराजित हो जाता है तब उसे एकमात्र देवबल ही सहारा मिलता है। यही तथ्य वेदों, स्मृतियों, पुराणों और उपपुराणों में प्रतिपादित है तथा अनेक भक्तों द्वारा आचरित है। आचार्य शङ्कर, रामानुज और बल्लभ आदि ने तथा रावण, ब्रह्मानन्द आदि सन्तों ने भी अनेक अवसरों पर देवताओं की स्तुतियां की हैं। इन्हीं सन्तों में गन्धर्वराज पुष्पदन्त भी एक हैं जिन्होंने महिम्नस्तुति की रचना की। इस स्तोत्र की रचना के सम्बन्ध में कहा जाता है कि—

"भगवान् शंकर के गणों में प्रसादवित्तक नामका एक गण था। जो भगवान् का भक्त तथा कथा सुनने का परम रसिक था। एक दिन भगवती पार्वती ने शङ्कर से निवेदन किया कि कोई अद्भुत कथा सुनाइए। भगवान् शङ्कर ने कहा कि आज वह कथा सुना रहा हूँ जो अब तक किसी ने सुना ही नहीं है। कथा की गोपनीयता सुरक्षित रहे इसलिए निर्जन आश्रम में नन्दी के पहरे में कथा आरम्भ हुई। कथा रसिक प्रसादवित्तक से नहीं रहा गया उसने छिप कर कथा सुन ली और अपनी पत्नी जया को भी सुना दी। जया भी बहुत प्रसन्न हुई और उसने कथा रसिका पार्वती को वह कथा सुना दी। पार्वती अवाक् रह गईं। उन्होंने तो शङ्कर से अश्रुत पूर्व कथा सुनी थी यह क्या बात है, क्या शिव भी झूठ बोलते हैं। उन्होंने शिव जी से कहा कि आप मुझे वह कथा सुना रहे थे जो एक दासी को पहिले सुना चुके थे। आज वही कथा उसने मुझे सुनाई है। भगवान् ने कहा कि हां, जब मैं तुम्हें कथा सुना रहा था तब छिप कर प्रसादवित्तक ने सुन ली। जया उसकी प्राणप्रिया है इसलिए उसने भी प्राप्त कर ली। अन्त में प्रसादवित्तक बुलाया गया और घटना के सत्य सिद्ध हो जाने पर पार्वती ने क्रोध में आकर मनुष्य लोक में आने का शाप दे दिया। इस पर उसने वैयाकरण होने की इच्छा व्यक्त की। न्याय मञ्जरी में लिखा है कि—

भ्रस्टः शापेन देव्याः शिवपुरबसतेर्यद्यहं मन्दभाग्यो,
भाव्यं वा जन्मना मे यदि मलकलिते मर्त्यलोके सशोके।

स्निग्धाभिर्दुग्धधारामलमधुर – सुधाविन्दुनिष्यन्दिनीभिः,
कामं जायेय वैयाकरणभणितिभिस्तूर्णमापूर्ण कर्णः।।

वह ही प्रसादवित्तक भूलोक में उत्पन्न हुआ और पुष्पदन्त, वररुचि तथा कात्यायन नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पुष्पदन्त अच्छे वैयाकरण थे। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के आदि रचयिता महेश्वर हैं। अतः शिव भक्त को व्याकरण अवश्य पढ़ना चाहिए ही था।[1] अन्त में पुष्पदन्तेश्वर महादेव की स्थापना करके उन्होंने उग्र तप आरम्भ किया पुनः अपना पद प्राप्त करने के लिए। उन्हें पूजा के पुष्प आवश्यक थे। पुष्प कहां से प्राप्त हों। इसलिए उन्होंने अपनी सहजवृत्ति के वशीभूत होकर एक राजा के उपवन से पुष्प की चोरी करना आरम्भ किया। माली गण बड़े सजग थे। फिर भी चोरी होती ही थी। समाचार राजा तक पहुँचा। राजा ने कहा कि कोई अपनी अन्तर्धान शक्ति के बल से पुष्प तोड़ता है। इसलिए उपवन के चारों ओर शिव निर्माल्य (शिव पर चढ़ा हुआ जल आदि) गिरा दो। जिसके लांघने से उसकी समस्त अन्तर्धान आदि शक्तियां नष्ट हो जायेंगी। वैसी ही किया गया। पुष्पदन्त ने अनजाने ही शिव निर्माल्य लांघ दिया। उनकी अन्तर्धान शक्ति नष्ट हो गई। तुरन्त पुष्पदन्त को रहस्य का पता चल गया। उसने शिव की कृपा के लिए महिम्नस्तोत्र की रचना की। इसमें कुल ४४ श्लोक हैं, जिनमें ३२ स्तुति के, ४ फल श्रुति के के अन्य प्रक्षिप्त हैं।

इस स्तोत्र पर विद्वत्कुलकमलदिवाकर आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपनी असाधारण प्रतिभा एवं वैदुष्य से सरल सुबोध, भावभरी ललित पदावली में व्याख्या की है। श्री मधुसूदन जी ने इन श्लोकों की शिव और विष्णु दोनों अर्थों में व्याख्या की है। जिससे यह स्तोत्र केवल शिव महिम्न स्तोत्र ही नहीं किन्तु विष्णु महिम्न स्तोत्र भी कहा जा सकता है। यहां यह शङ्का उठना स्वाभाविक है कि जब पुष्प दन्त ने शिव की रुष्टता को दूर करने और उनकी कृपा पाने के लिए स्तुति की तो इन श्लोकों का विष्णु पक्ष में खींचातानी करके व्याख्या करना आचार्य मधुसूदन सरस्वती के लिए उचित

---

१. तेन तप्त्वा तपो घोरं लिङ्गं तत्र प्रतिष्ठितम्। तद् दृष्टवा मुच्यते जन्तु र्जन्मसंसारबन्धनात्। स्क० प्रभास० १७४ अ० २।

नहीं था। किन्तु [१] एक ही हृञ् धातु से अच् प्रत्यय करने पर हर शब्द और उणादि सूत्र अच इ से इ प्रत्यय करने पर हरि शब्द बनता है। इस प्रकार हरि और हर शब्द की भांति शिव और विष्णु देवता (हरि और हर) का स्वभाव एक ही है। जैसे अच् अथवा इ प्रत्यय के भेद से हरि और हर दो शब्द बनते हैं वैसे ही केवल प्रत्यय (विश्वास) के भेद से ही दो देवता माने जाते हैं। विद्वानों का एक यह भी मत है कि [२] किसी भी देवता के लिए किया गया नमस्कार केशव के लिए हो। इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिए अद्वैती महाभागवत आचार्य मधुसूदन ने अद्वैती महा वैयाकरण पुष्पदन्त के स्तोत्रों की दो अर्थों में व्याख्या की है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती का पाण्डित्य संस्कृत जगत् में परम प्रसिद्ध है। इतने बड़े विद्वान् ने महिम्नस्तोत्र पर अपनी लेखनी बड़े सम्मान से चलाई यह ही इस ग्रन्थ की गरिमा के लिए पर्याप्त है। फिर भी इस स्तोत्र के ७वें श्लोक की व्याख्या में उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रमुख स्तम्भों की एक सूची प्रस्तुत की है जो अवश्य दर्शनीय है। इस ग्रन्थ में पहिले तो भगवान् के सगुण साकार रूप की स्तुति की गई है किन्तु अन्त में एक अद्वैत ब्रह्म ही प्रतिपाद्य माना गया है। इस प्रकार यह स्तोत्र ब्रह्म की स्तुति में रचा गया है। आचार्य मधुसूदन के मत में 'हरिशङ्करभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात्' यह व्याख्या रची गई है। आचार्य मधुसूदन को यह भी बड़ा भय था कि कोई मूढ़ इसमें से सार संग्रह करके दूसरी टीका रच लेगा फिर तो हमारा परिश्रम व्यर्थ ही होगा। इसी लिए उन्होंने यदि कोई मूढ़बुद्धि मेरी इस टीका से सार संग्रह करके टीकान्तर का निर्माण करे तो उसे शिव, विष्णु, ब्राह्मण, गौ और देवताओं का द्वेष भाव प्राप्त हो, लिखा है। इससे यह पता चलता है कि इस प्रकार की प्रथा उस समय चल पड़ी थी जिसके कारण उन्हें इतनी शपथ दिलानी पड़ी। यही कारण है कि इस स्तोत्र पर किसी ने टीका नहीं की। मैं भी जब टीका का अनुवाद करने बैठा तब

---

१. हरिहरयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदात् विभिन्नवद् भाति। कलयति कश्चिन् मूढ़ हरिहरभेदं विनाशास्त्रम्।।

२. सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छतु।

भयभीत हुआ की महापुरुष की इच्छा का उल्लंघन न हो। अतएव उनके ग्रन्थ का सार लेकर टीकान्तर नहीं किन्तु उन्हीं के शब्दों में केवल संस्कृत प्रत्ययों के हटाने का साहस कर संका हूँ। मैंने यह कार्य इसलिए किया कि बहुत से लोग ऐसे हैं, जो केवल वर्णमाला चीह्न कर मातृभाषा लिखना पढ़ना सीख लिये हैं उन्हें भी संस्कृत भाषा में निबद्ध यह ग्रन्थ समझ में आ जाये। ऐसे लोगों की संख्या भी बहुत है। अतः मेरा यह कार्य बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय हो यही मेरी हार्दिक इच्छा रही है और उसी की प्रेरणा से यह कार्य पूरा हो सका है।

सज्जनों ने इस ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय संस्करण को बड़े चाव से स्वीकार किया। इससे इसकी सभी प्रतियाँ बहुत शीघ्र बंट गईं। अनेक मुमुक्षुओं ने बाद में ग्रन्थ की प्राप्ति की इच्छा से हमें पत्र लिखा। कुछ सज्जन पुस्तक के लिए हमें मिले भी। परन्तु उन्हें ग्रन्थ न होने से निराश होना पड़ा। हम यत्र तत्र धर्म प्रचार कार्य में व्यस्त रहे। साथ ही हरिद्वार में आश्रम निर्माण कार्य में और व्यस्तता बढ़ गई। इस कारण से इसके पुनः प्रकाशन में मनोयोग न हो सका। कुछ समय पश्चात् मन में आया कि धार्मिक ग्रन्थ प्रकाशन भी तो धर्म प्रचार ही है। परन्तु धनाभाव इसके प्रकाशन में बाधक जान पड़ा साथ ही अनुकूल प्रेस न मिला। अनुकूल प्रेस और धन होने पर कागज की समस्या जटिल रही। इससे द्वितीय आवृत्ति में अत्यधिक विलम्ब हो गया। जिनके महत्त्व के प्रकाशन में यह ग्रन्थ है उन्होंने ही इसे पुनः प्रकाशन योग्य बनाया। इस संस्करण में मूल श्लोकों का पाठ भी आरम्भ में अलग से दे दिया गया है। हमें विश्वास है कि हमारे इस प्रयास से विश्वात्मा प्रसन्न होंगे और सज्जनवृन्द त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए त्रुटियों की सूचना देंगे, जिससे उनका आगे मार्जन हो सकेगा।

स्वामी रघुनाथ गिरि
संस्थापक
श्री अध्यात्म पीठ, गोसदन
भूपतवाला कलां, हरिद्वार, उ० प्र०
पिन नं० २४९४०१

श्री पुष्पदन्तगन्धर्वराजविरचितम्।।

महिम्नस्तोत्र

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य श्रीमधुसूदन सरस्वती
रचित शिवविष्णवर्थव्याख्यायुतम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिरघुनाथगिरि महाराज
महामण्डलेश्वर रचित भाषानुवादयुतञ्च

।। श्री शिवमहिम्नः स्तोत्रम् ।।

ॐगजाननं भूतगणाधिसेवितम्। कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम्।।
उमासुतं शोकविनाशकारकम्। नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्।।

श्री पुष्पदन्त उवाच

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी।
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।।
अथाऽवाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्।
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ।।१।।

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ।।२।।

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ।।३।।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन् वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ।।४।।

किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन् मुखरयति मोहाय जगतः ।।५।।

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ।।६।।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।७।।

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्मफणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रू प्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।।८।।

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परोध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवन् जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ।।९।।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चि र्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।

ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥१०॥
अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबले
स्थिरायात्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥११॥
अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनम्
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥
यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्नकस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥१३॥
अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयनविषं संहृतवतः।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥१४॥
असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा नहि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥१५॥

महीपादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडान्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥१८॥

हरिस्ते साहस्त्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥१९॥

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वाकृतपरिकरः कर्मसु जनाः ॥२०॥

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः।

क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखः ॥२१॥
प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥
स्वलावण्याशंसा धृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरतदेहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥
स्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥२४॥
मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायाऽऽत्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५॥
त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥२६॥

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-

नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृतिः।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ।।२७।।

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां-

स्तथा भिमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।

अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि

प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ।।२८।।

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो

नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।

नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो

नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति सर्वाय च नमः ।।२९।।

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः

प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।

जनसुखकृते सत्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः

प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ।।३०।।

कृशपरिणतिचेतः क्लेशवश्यं क्वचेदं

क्व च तव गुणसीमोङल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः।

इति चकितमन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्

वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ।।३१।।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधुपात्रे

सुरतरुवरशाखा लेखिनी पत्रमुर्वी।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं

तदपि तव गुणानामीश पारं न यति ।।३२।।

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-

ग्रंथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।

सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो

रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ।।३३।।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्

पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः।

स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र

प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमाँश्च ।।३४।।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः

महिम्नस्त्व पाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।३५।।

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम्।

अनौपम्यं मनोहारि शिवमीश्वरवर्णनम् ।।३६।।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।

अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।।३७।।

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः

शिशुशशिधरमौलेर्देवदेवस्य दासः।

स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्

स्तवनमिदमकार्षीद् दिव्यदिव्यं महिम्नः ।।३८।।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं

पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः।

व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ।।३९।।

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ।।४०।।

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ।।४१।।

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनञ्च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ।।४२।।

।। श्री साम्बसदाशिवार्पणमस्तु ।।

।। ॐ नमः शिवाय ।।

विश्वेश्वरं गुरुं नत्वा महिम्नाख्यस्तुतेरयम्।
पूर्वाचार्यकृतव्याख्यासङ्ग्रहः क्रियते मया।।

एवं किलोपाख्यायते—कश्चित् किल गन्धर्वराजः कस्यचिद्राज्ञः प्रतिदिनं प्रमदवनकुसुमानि हरन्नासीत्। तज्ज्ञानाय "शिवनिर्माल्यलङ्घनेन मत्पुष्पचौरस्यान्तर्धानादिका सर्वापि शक्तिर्विनङ्क्ष्यतीत्यभिप्रायेण" राज्ञा शिवनिर्माल्यं पथि निक्षिप्तम्। तदप्रतिसन्धाय च गन्धर्वराजस्तत्र प्रविशन्नेव कुण्ठितशक्तिर्बभूव। ततश्च शिवनिर्माल्योल्लङ्घनेनैव ममैतादृशं वैक्लव्यमिति प्रणिधानेन विदित्वा परमकारुणिकं भगवन्तं सर्वकामदं तमेव तुष्टाव।

ननु स्तुतिर्नाम गुणकथनम् तच्च गुणज्ञानाधीनम्, अज्ञातस्य तस्य कथनासम्भवात्, तथा च भगवतो गुणानामनन्तत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात् कथं तत्कथनरूपा स्तुतिरनुरूपा भवति अननुरूपकथनं चोपहासायैवेति या शङ्का तदपनोदनव्याजेन स्वस्यानौद्धत्यं दर्शयन्नेव भगवन्तं स्तोतुमारभते-

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी,
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्,
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ।।१।।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

सच्चिदानन्दरूपाय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे।

संसारतापदग्धानां शरण्याय नमो नमः।।

श्री विश्वेश्वर (सरस्वती) गुरुदेव को नमस्कार करके महिम्न नामक स्तोत्र की पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा की गई व्याख्या का मैं सार-संग्रह कर रहा हूँ।

ऐसा परम्परया सुना जाता है कि—कोई श्रेष्ठ गन्धर्व किसी राजा के (परम रमणीय प्रमद-वन से प्रतिदिन पुष्पों को चुरा ले जाता था। उसे जानने के लिए "शिव निर्माल्य के लांघने से हमारे पुष्पों के चोर की अन्तर्धान आदि होने की सभी शक्ति समाप्त हो जायेगी।" इस विचार से राजा ने मार्ग में भगवान् शङ्कर के निर्माल्य को बिखेर दिया। गन्धर्वराज (पुष्पदन्त) बिखेरे गये निर्माल्य को न जानते हुए उद्यान में प्रवेश करते ही अन्तर्धानादि शक्ति से हीन हो गया। बाद में ध्यान से यह जान कर कि शिवं निर्माल्य के लाँघने से यह मेरी विकलता हुई है। परम कृपालु, सम्पूर्ण कामना के पूरक उसी भगवान् की स्तुति करने लगा।

शङ्का-गुणों के वर्णन को स्तुति (कहा जाता है) पर वह तो गुणों के ज्ञान के अधीन हो सकती है। गुणों के ज्ञान न होने से उनका वर्णन असंभव है। तथा भगवान् के गुण (पुञ्ज) तो अनन्त है अतः उन सबका ज्ञान होना भी सामर्थ्य के अधीन नहीं है। इस परिस्थिति में गुण वर्णन रूप स्तुति भगवान् के स्वरूप के योग्य कैसे होगी। स्वरूप योग्य वर्णन न होना केवल उपहास के लिए ही होता है। इस प्रकार की शङ्का का निराकरण करने के लिए अपनी नम्रता दिखाते हुए पुष्पदन्त भगवान् की स्तुति आरम्भ करता है।

हे हर! (पाप हारिन् शङ्कर) आपके माहात्म्य के ओर छोर के ज्ञान से रहित साधारण मनुष्य द्वारा की गई आपकी स्तुति यदि आपके स्वरूप वर्णन के योग्य नहीं है तो फिर ब्रह्मादि देवताओं की वाणी भी आपकी स्तुति के अयोग्य ही है। ऐसी अवस्था में जव सभी जन अपनी वुद्धि शक्ति के अनुसार (आपकी) स्तुति करते हुए निर्दोष हैं। तव मेरा

महिम्नः पारमिति–हे हर! सर्वाणि दुःखानि हरतीति हरः। योग्यं सम्बोधनम्। सर्वदुःखहरत्वेनैव प्रसिद्धोऽसि, न मम दुःखहरणे पृथग्व्यापारं करिष्यसीत्यभिप्रायः। हे सर्वदुःखहर! ते तव महिम्नः परं पारमवधिमविदुषः एतावानेव महिमेतीयत्तयाऽजानतः। कर्तृत्वसम्बन्धे षष्ठी। अज्ञानकर्तृका स्तुतिर्यद्यसदृश्यननुरूपा, अयोग्येति यावत्। तत्तर्हि ब्रह्मादीनां सर्वज्ञानामपि गुणकथनरूपा गिरस्त्वयि विषयेऽवसन्नाः। अयोग्या एवेत्यर्थः। तैरपीयत्तयाज्ञानात्। इयत्ताया असत्वेन तदज्ञाने सार्वज्ञव्याघातोऽपि न। सन्मात्रविषयत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। अन्यथा भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। तथा च श्रीभागते—"विष्णोर्नुवीर्य[1] गणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि" इति। अथेति पक्षान्तरे। यद्येवं ब्रूषे तर्हि स्वमतिपरिणामावधि स्वस्यमतिपरिणामो बुद्धिविषयता, स एवावधि यंत्रेति क्रियाविशेषणम्। स्ववुध्या यावद्विषयीकृतं तावद्गृणन् वाक्सृष्टिसाफल्याय कथयन् सर्वोऽपि स्तोता अवाच्योऽनुपलम्भनीयः। "सा[2] वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते, करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च' : 'जिह्वाऽसती[3] दर्दुरिकेव सूत, न

---

१. भागवत २ स्क, ७ अ, ४०।
२. १० स्क, ८० अ, ३।
३. भागवत २ स्क, ३ अ, २०।

भी स्तुति करने में प्रयत्न करना निर्दोष ही है।

हे हर! सभी (अध्यात्मादि) दुःखों को हरण करने से हर हो। हर योग्य सम्बोधन है। प्रभो! सम्पूर्ण दुःखों को हरण करने में प्रसिद्ध हो हमारे दुखों के हरने में अलग प्रयास नहीं करना है। यह हर सम्बोधन का आशय है। हे सर्व दुःखहारिन्! आपके माहात्म्य की परम सीमा न जानने वाले (कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति सम्बन्धेच्छा से है) अज्ञानी से की गई स्तुति यदि आपके (स्वरूप के) अनुरूप नहीं है। अर्थात् अयोग्य है। तब तो नाथ! सर्वत्र ब्रह्मादि देवों के स्तुति रूप वाक्य समुदाय आपके विषय में अयोग्य ही है, यही सत्य है।

क्योंकि उन लोगों को भी सर्व महिमा ज्ञात नहीं है। (ऐसा होने से ब्रह्मादि में सर्वज्ञता नहीं होगी यह शङ्का नहीं बनती) महिमा की सीमा है ही नहीं अतः उसके न जानने से सर्वज्ञता नष्ट नहीं होती है। क्योंकि सत्य "अद्वितीय कारण" के ज्ञान होने से उनमें सर्वज्ञता है। यदि सर्वज्ञ न माने तो उन्हें भ्रान्त मानना पड़ेगा। और सर्वगुण ज्ञाता मानें तो गुणों की अनन्तता न होगी। जैसे श्रीभागवत में गुणगणना असम्भव बताया है। "भगवान् के पराक्रमों की गणना इस लोक में कौन कर सकता है। भले ही कोई क्रान्त-दर्शी पृथिवी के रजःकणों को गिन ले।" यहाँ पर अथ शब्द अन्य रीति के अभिप्राय से है। यदि (गुण गणना सर्वथा असम्भव है) ऐसा कहें तब तो अपनी बुद्धि के विकास के अनुसार ही अवधि मान कर (स्वमति परिणामवधि पद गृणन् क्रिया का विशेषण है) अर्थात् अपनी बुद्धि से जितना जाना उतना वर्णन करता हुआ। वाणी की रचना की सफलता के लिए कोई भी स्तुति कर्ता उलाहना का पात्र नहीं हो सकता है। जिस वाणी से भगवद्गुण गान किया जाय वही वाणी है, जिन हाथों से भगवत्सेवा हो वे ही हाथ हैं, मन भी वही हो सकता है जिसमें परमात्म-चिन्तन हो। हे सूत जो

चोपगायत्युरुगायगाथाः, इति च श्रीभागवतवचनात्। तर्हि "नभ[१] पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः" इति न्यायेन ममाप्येष परिकर आरम्भः स्तोत्रे स्तोत्रविषये निरपवादोऽखण्डनीयः। स्वबुद्ध्यनुसारेण योग्य इत्यर्थः। प्रथमार्धेन स्तुतिनिराकरणव्याजेन सर्वदुरधिगममहिमत्वरूपा महती स्तुतिः कृता, उत्तरार्धेन स्तुतिसमाधानव्याजेन सर्वास्तुतिरनुरूपेति महत्कौशलम्। अन्यच्च गन्धर्वराजस्य महाकुशलत्वात् एकेनैव श्लोकेन यथाश्रुति वक्रीत्या च हरिशङ्करयोः स्तुतिस्तयोरभेदज्ञानायाभिप्रेता।

तत्र हरपक्षे यथाश्रुति व्याख्यातम्। हरिपक्षेऽपि तदेव योजनीयम्। सम्बोधनपदं तु अहरेति। हरतीति हरः तद्विरुद्धोऽहरः पालयितेत्यर्थः। अथवाऽहः अहो परम परा मा लक्ष्मीर्यस्येति तथा हे लक्ष्मीपते लक्ष्मीपतित्वान्ममालक्ष्मीं स्वत एव नाशयिष्यसीति योग्यं सम्बोधनम्। यदि ते महिम्नः त्वन्महिमसम्बन्धिनी त्वन्महिमविषया स्तुतिः। गिरो महिम्न इति योजनापेक्षया ते स्तुतिरित्येव समीचीनम्, तत्तर्हि अवसन्नाऽल्पा असदृश्यननुरूपाप्यस्तु नत्वन्य देवतानामनल्पाऽनुरूपापि। अत्र हेतुगर्भं विशेषणम्। तव कीदृशस्य,

१. भा १।१८।२३ ।

जिह्वा परम पराक्रमी भगवान् के गुणों को न गाती हो वह व्यर्थ की टर-टर करने वाली मेंढकी के समान है। इस प्रकार श्री भागवत के वाक्य हैं। तव तो जैसे पक्षी गण (अनन्त) आकाश में अपनी शक्ति के अनुसार उड़ते हैं। इस न्याय से मेरा भी स्तोत्र के सम्बन्ध में यह प्रयास करना अपवाद का विषय नहीं है। अर्थात् इस प्रयास का कोई खण्डन नहीं करेगा। अपनी बुद्ध्यनुसार स्तुति करना योग्य ही है। श्लोक के प्रथमार्ध भाग से स्तुति के निराकरण व्याज से भगवान् की महिमा सर्वजन ज्ञेय नहीं है, यह वताते हुए भगवान् की महिमा अपार है इस प्रकार वहुत बड़ी स्तुति की और श्लोक के उत्तरार्ध से सब की सभी प्रकार की भगवत्स्तुति योग्य ही है। इस प्रकार बड़ा काव्य-कौशल व्यक्त किया। विशेष कर गन्धर्वराज पुष्पदन्त बड़े कुशल कवि हैं। अतः इनको एक ही श्लोक से यथाश्रुत अर्थ तथा वक्र रीति से हरिहर की स्तुति अभेद ज्ञान कराने के लिए अभिलषित है।

उन दोनों पक्षों में से शङ्कर के पक्ष में यथाश्रुत व्याख्या की गई। हरि (विष्णु) पक्ष में भी वही योजना करनी चाहिए। सम्वोधन के हर शब्द में अहर करना चाहिए। हरण संहार-कर्ता हर उसका उल्टा अहर होगा पालन-कर्त्ता। अथवा हे परम्! (परा मा लक्ष्मी जिसकी) हे लक्ष्मीपते! लक्ष्मीपति होने से मेरा दारिद्र्य स्वयं नष्ट करोगे। इस प्रकार परम बड़ा उत्तम सम्वोधन है। और आपकी महिमा से सम्बद्ध स्तुति है। स्तुति में भी आपकी ही स्तुति सबसे उत्तम है तब तो थोड़ी और अननुरूप हो तो भी ठीक है। अन्य किसी छोटे देवता की अधिक से अधिक तथा अनुरूप स्तुति भी (अल्प फलदायक होने से) ठीक नहीं है। यह अवसन्ना यहां विशेषण हेतु[1] गर्भ है। आप स्तुति में तत्पर ब्रह्मा आदि की स्तुतिरूप वाक्यों के पार (ओर छोर) के ज्ञाता हैं। स्तुतिकर्त्ता के

---

१. कोई पद विशेषण होकर किसी कार्य का अनुमापक होने पर हेतुगर्भ कहा जाता है।

ब्रह्मादीनां स्तावकानां गिरः स्तुतिरूपायाः पारं विदुषः। स्तोतुः श्रमं स्तुतेर्गुणदोषौ च जानत इत्यर्थः। सर्वदेवस्तुत्यत्वेन निरतिशयसार्वज्ञेन च तवैव सर्वोत्कृष्टत्वादित्यभिप्रायः।

स्तुतिफलं दर्शयन् स्वस्य विनयातिशयं दर्शयितुमाह। अथ स्वं त्वाम् अतिपरिणामावधि अतिक्रान्तो बुद्धिपरिपाकावधिः सीमा यत्र तादृशं यथा स्यात्तथा स्वशक्तिमतिक्रम्यापि गृणन् स्तुवन् सर्वोऽपि जनः अवाच्य आभिमुख्येन वाच्यः। सम्भाषणीयस्त्वयेत्यर्थः। यस्मादेवं सर्वथैवानुगृह्यते त्वया स्तोता अत एव ममापि स्तोत्रे स्तुतिकर्त्रे एषः परिकरो नमस्कारादिप्रबन्धः। कीदृशः, अनिरपवादः न विद्यतेऽतिशयेनापवादो दूषणं यस्मात्स तथा। अहरति वीप्सनीयम्। अहरहः सर्वदेत्यर्थः। यद्विषयकस्तुतिकर्तृत्वेनान्योऽपि सर्वदा नमस्यः किमु वक्तव्यं स सर्वदा सर्वेषां नमस्यतरो भवतीति भगवति रत्यतिशयो व्यज्यते। एवं यस्यायोग्यापि स्तुतिः सान्निध्यफला तस्य योग्या स्तुतिः किं वा न करिष्यतीति ध्वनितम्। हरपक्षेऽप्येवम्। तत्र परम श्रेष्ठेति सम्बोधनम् ।।१।।

पुनरप्यस्तुत्यत्वेनैव भगवन्तं स्तौति पूर्वोक्तं स्वस्य ब्रह्मादिसाम्यमुपपादयन्—

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः,
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ।।२।।

परिश्रम एवं स्तुति के गुण दोषों के विशेषज्ञ हैं।

अभिप्राय यह है कि प्रभो! सम्पूर्ण देव समुदाय के आप स्तुत्य हैं, सीमातीत सर्वज्ञता के कारण आप ही तो सभी (देवों) में श्रेष्ठ हैं।

अपनी विशेष विनयशीलता दिखाने के लिए स्तुति के फल को दिखा रहे हैं। भगवन्! बुद्धि के परिणाम (विस्तार) की अवधि से आप परे हैं। ऐसी दशा में आप अपनी शक्ति का विचार न कर कोई भी स्तुति कर्ता आपके द्वारा सम्भाषण (वार्तालाप) का पात्र है। उससे आप अवश्य वार्तालाप करते हैं। आपके द्वारा स्तुति करने वाले सब प्रकार से अनुगृहीत होते ही हैं इसीलिए मेरी स्तुति में भी यह नमस्कारादि समारम्भ है। वह किस प्रकार का प्रबन्ध है? इस पर आगे कहते हैं— अपवाद (दोष) निरपवाद जिस प्रवन्ध में दोष है ही नहीं। अहः पद को दो बार मानना चाहिए, जिससे "सर्वदा" यह भी अर्थ निकलेगा। जिसकी स्तुतिगान करने से अन्य जन भी सर्वदा नमस्करणीय हो जाते हैं। सदा सर्वजन नमस्कार्य हो जाता है इस सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, इस प्रकार भगवान् के प्रेम की अधिकता (भक्त पर) व्यक्त होती है। इसी प्रकार जिस (दयालु) परमात्मा की साधारण तुच्छ स्तुति भगवत्स्मीप्य दे सकती है उसकी योग्य स्तुति क्या-क्या नहीं कर सकती यही ध्वनि है। शिव पक्ष में भी इसी प्रकार स्तुति फल समझना। उस पक्ष में परम से श्रेष्ठ! सम्वोधन जानना। ।।१।।

व्रह्मादि से स्तुति में अपनी समानता प्रतिपादित करते हुए भगवान् के योग्य स्तुति नहीं है इस प्रकार स्तुति करते हैं—

(हे हर!) भवदीय महात्म्य तो मन वाणी के मार्ग से परे है। (आपके) जिस महात्म्य को वेदवाणी भी अविद्या और अविद्या के कार्यरूप-उपाधि का निराकरण करते हुए (कहीं त्रुटि न हो जाए) भयभीत होकर प्रतिपादन करती है वह अचिन्त्य महिमायुक्त आप किसकी स्तुति के विषय हो सकते हैं? क्योंकि आपके अनन्त गुण हैं।

अतीत इति। पूर्वोक्तं सम्बोधनमावर्तनीयम्। तव महिमा सगुणो निर्गुणश्च वाङ्मनसयोः पन्थानं विषयत्वमतीतोऽतिक्रान्तः। च शब्दोऽवधारणे। अतीत एवेत्यर्थः। अनन्तत्वान्निर्धर्मकत्वाच्च। तथाच श्रुतिः "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा[१] सह" इति। वागविषयत्वे तत्र श्रुतेः प्रामाण्यं न स्यादित्यशङ्क्याह। यं श्रुतिरप्यपौरुषेय्यपि वेदवाणी चकितं भीतं यथा स्यात्तथा अभिधत्ते तात्पर्येण प्रतिपादयति। सगुणपक्षे किञ्चिदप्ययुक्तं मा भूदिति, निर्गुणपक्षे तु स्वप्रकाशस्यान्याधीन-प्रकाशता मा भूदिति भयम्। केन प्रकारेण। अतद्व्यावृत्या सगुणपक्षे न तद्व्यावृत्तिरतद्व्यावृत्तिस्तया। अभेदनेत्यर्थः।

[२]"सर्व खल्विदं ब्रह्म", "सर्वकर्मा सर्वकामः" इत्यादिना सर्वाभेदेनैव भगवन्तं प्रतिपादयति। न त्वेकैकशो महिमानं वदतीत्यर्थः। निर्गुणपक्षे तु न तत् अतत्, अविद्यातत्कार्यात्मकमुपाधिद्वयमिति यावत्। तद्व्यावृत्या तत्परित्यागेन जहदजहल्लक्षणयेत्यर्थः। मायाविद्योपहितचैतन्यशक्तं तत्पदं तत्कार्यबुद्ध्याद्युपहितचैतन्यशक्तं त्वं पदमुपाधिभागत्यागेनानुपहित

---

१. तैत्तिरीय ब्र० बल्ली, ८ अनुवाक।

२. छान्दोग्य ३ अध्याय, १४ ख० १ मन्त्रः। २ मन्त्रः।

बुद्धि तो अल्प शक्ति सम्पन्न है। फिर आप किस (अन्तःकरण) के विषय हो सकते हैं? फिर भी हे नाथ! नवीन परम रमणीय आपके (सगुण साकार) रूप में किसका मन नहीं रमता और किसकी वाणी तल्लीन नहीं होती। अर्थात् सबकी मन और वाणी तल्लीन हो जाती है ॥२॥

प्रथम श्लोक में आए हुए (हे हर) सम्बोधन यहाँ भी अनुवृत्त है। हे हर! आपकी सगुण या निर्गुण महिमा दोनो ही मन एवं वाणी के मार्ग से परे है। च शब्द निश्चय अर्थ में है। अतः मन वाणी से परे ही है। क्योंकि अनन्त एवं बिना धर्म के है। जैसे श्रुति कहती है—"मन के साथ वाणी जिसे बिना प्राप्त किये ही लौट आती है" इस प्रकार वाणी का विषय (प्रतिपाद्य) न होने में उस रूप एवं माहात्म्य से वाणी रूप वेद प्रमाण नहीं हो सकते यह शङ्का हो सकती है। जिसे अपौरुषेय[1] वेद वाक्य भयभीत होकर तात्पर्य रूप से ही प्रतिपादन करते हैं। सगुण के विषय में कुछ छूट न जाये (तथा) निर्गुण के विषय में स्वयं प्रकाश का किसी अन्य के प्रकाश द्वारा प्रकाशित होने की अवस्था न आ जाये। (तब) किस प्रकार से? सगुण पक्ष में (उसके किसी भाग) को न त्याग कर अभेद रूप से "यह सर्व (दृश्यमान जगत्) ब्रह्म है" वह परमात्मा सर्व कर्म तथा सम्पूर्ण इच्छायुक्त है इत्यादि श्रुतियाँ भगवान् को सभी विश्व से अभिन्न रूप से ही निरूपण करती हैं। न कि एक एक महिमा को लेकर प्रतिपादन करती हैं। निर्गुण–पक्ष में तो अविद्या एवं अविद्या के कार्यरूप दोनों उपाधियों को परित्याग कर जहदजहदलक्षणा से प्रतिपादन करती हैं। माया तथा अविद्यारूप उपाधि सम्बद्ध चेतन के प्रतिपादन में "तत्" पद शक्ति विशिष्ट है। अर्थात् शक्ति द्वारा तत् पद माया–विद्या सम्बद्ध चेतन का बोधक है। माया के कार्यरूप बुद्धि आदि उपाधि से सम्बद्ध चेतन का शक्ति के द्वारा "त्वम्" पद बोधक है। मानों, श्रुति के (वे ही तत् एवं त्वम् पद)

१. जिसके निर्माण में पुरुष प्रयत्न न हो वह अपौरुषेय है।

चैतन्यस्वरूपं स्वप्रकाशमपि तदाकारवृत्तिमात्रजनेनाविद्या-तत्कार्यनिवृत्या बोधयतीति न तावता वाग्विषयत्वं मुख्यं तस्येत्यर्थः।

अत एव स तादृशः सगुणो निर्गुणश्च महिमा कस्य स्तोतव्यः। कर्तरि षष्ठी। न केनापि स्तोतुं शक्य इत्यर्थः। सगुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह—कतिविधगुणः कतिविधा अनेकप्रकाराः गुणा यत्र स तथा। अनन्तत्वादेव न स्तुत्यर्ह इत्यर्थ। निर्गुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह—कस्य विषय इति। न कस्यापि विषयः निर्धर्मकत्वात्। अत एवाविषयत्वान्नस्तुत्यर्ह इत्यर्थः। सगुणो ज्ञेयत्वेऽप्यनन्तत्वात् निर्गुणस्त्वेकरूपोऽपि ज्ञेयत्वाभावान्न स्तुत्त्यश्चेत्तर्हि स्वमतिपरिणामावधिगृणन्निति पूर्वोक्तं विरुद्ध्येतेत्यतः आह-पदे त्विति। अर्वाचीने नवीने भक्तानुग्रहार्थं लीलया गृहीते वृषभपिनाकपार्वत्यादि-विशिष्टे रूपे कस्य विदुषो मनो न पतति नाविशति। कस्य वचो नाविशति। अपि तु सर्वस्यापि मनो वचश्च विशतीत्यर्थः। तत्र हिरण्यगर्भस्यास्मदादेश्च सममेव स्तुतिकर्तृत्वमिति न पूर्वापरविरोधः।

हरिपक्षेऽप्येवम्। अथवा यम् अतद्व्यावृत्या कार्यप्रपञ्चभेदाच्चकितं भीतं मद्भिन्नत्वेन कार्यप्रपञ्चं मा पश्यत्विति शङ्कमानं श्रुतिरभिधत्ते-इति पूर्ववत्। अर्वाचीने पदे तु कमलकम्बुकौमोद-कीरथाङ्गकमलालयाकौस्तुभाद्युपलक्षिते नवजलधरश्यामधामनि

उपाधि अंश को छोड़ कर शुद्ध उपाधि रहित स्वयं प्रकाश चैतन्यमात्र को चैतन्याकारवृत्ति के उत्थान (उत्पादन) द्वारा अविद्या और अविद्या के कार्य (अन्तःकरणादि) की निवृत्ति द्वारा बताते हैं। इतने (वृत्तिजनन तथा अज्ञान नाश) से ही मुख्य रूप से चेतन वाणी का विषय नहीं होता। इसी से अति विलक्षण सगुण और निर्गुण महिमा किसकी स्तुति का विषय हो सकती है। 'कस्य' पद में कर्त्ता अर्थ में षष्ठी है। इससे कोई स्तुति में समर्थ नहीं है। सगुण महिमा स्तुति से परे है इसमें कारण दिखाते हैं—(सगुण) में कई प्रकार के अनन्त गुण हैं। अतः अनन्त गुण होने से ही स्तुति योग्य नहीं है। निर्गुण भी स्तुति योग्य नहीं है क्योंकि—

कोई धर्म न होने से किसी का विषय नहीं हो सकता। (नाम जाति रूप गुण के होते ही किसी का विषय होता है) अतः विषय न होने से स्तुति योग्य नहीं है। (निष्कर्ष यह हुआ) सगुण ज्ञेय होने पर भी अनन्त है और निर्गुण एक समान एक रूप होते हुए भी ज्ञेय न होने से स्तुति योग्य नहीं है। तो दूसरे श्लोक में "स्वमति अनुसार स्तवन करता हुआ" इस कथन से विरोध होगा। इसलिए (आगे) कहा कि—(परम सुन्दर) नवीन रूप जिसे भक्तों पर कृपा करने के लिए अपनी इच्छा से ग्रहण किया है। नन्दी, त्रिशूल, पार्वती, गंगा आदि विभूषित रूप में किस विद्वान् का मन प्रवेश नहीं करता तथा किस विद्वान् की वाणी उसमें नहीं लगती है? अर्थात् सभी की मन एवं वाणी प्रवेश करती ही है। यहाँ ऐसी अवस्था में हिरण्यगर्भ तथा हमारे जैसे लोगों की स्तुति समान ही है। इससे पूर्व आये विरोध (की आशंका) नहीं है।

विष्णु पक्ष में भी इसी प्रकार अर्थ होगा। अथवा जिसे कार्य प्रपञ्च भेद से चकित (भयभीत) होकर "हम से कार्य प्रपञ्च भिन्न न दिखाई दे" इस प्रकार शङ्का-कुल हो कर श्रुति प्रतिदान करती है। आगे पूर्ववत् है। परन्तु नवीन स्वरूप कमल, शङ्ख, गदा, चक्र, लक्ष्मी, कौस्तुभ-मणि आदि विभूषित नवीन मेघ के समान परम मनोहर द्युति-

श्रीविग्रहे वैकुण्ठवर्तिनि वेणुवादनादिविविधविहारपरायणे गोपकिशोरे वा वृन्दावनवर्तिनि कस्य मनो नापतति कस्य वचश्च नापतति। अपगता ततिविस्तारो यस्मात्तदपतति संकुचितमिइत्यर्थः। तव श्री विग्रहानुचिन्तने तद्गुणानुकथने च विषयान्तरपरित्यागेन विलीयमानावस्थं मनो वचश्चैकमात्रविषयतया सङ्कुचितम् भवति। तव श्री विग्रहे एवासक्तं भवतीति भावः।

नन्वेवं स्तुत्यत्वेऽपि हरिहरयोः सर्वज्ञयोरनभिनवया स्तुत्या न मनोरञ्जनं तद्विना न तत्प्रसादस्तं बिना न फलमिति पुनरपि स्तुतेर्वैयर्थ्ये प्राप्ते सार्थक्यं दर्शयन् स्तौति—

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतस्,
तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः,
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ।।३।।

मध्विति। हे ब्रह्मन् विभो सुरगुरोर्ब्रह्मणोऽपि वाग् वाणी तव किं विस्मयपदं चमत्कारकारणं किम्। किं शब्द आक्षेपे। नेत्यर्थः। तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह-तव कीदृशस्य। वाचो वेद-लक्षणा निर्मितवतो निःश्वासवदनायासेनाविर्भावितवतः। कीदृशीः। मधुवत् स्फीताः माधुर्यादिशब्दगुणालङ्कारविशिष्टत्वेन मधुराः। तथा

पुञ्ज शोभा युक्त वैकुण्ठ वासी परम सुन्दर देह में या वंशी वादन रास आदि अनेक प्रकार लीला परायण वृन्दावन-वासी गोप किशोर में किसका मन अथवा वाणी नहीं खिंच जाती। अर्थात् अवश्य खिंचती है। किसके मन एवं वाणी की चञ्चलता दूर नहीं हो जाती है? यह आशय है कि आपके श्री-विग्रह के चिन्तन में और उसके गुणगान में अन्य तुच्छ विषयों का परित्याग कर किस का मन एवं वाणी एक ही विषय में केन्द्रित नहीं हो जाती। अर्थात् आप के श्री सम्पन्न शरीर में ही आसक्त हो जाती है ।।२।।

शङ्का-ऐसा मान लेते हैं कि भगवान् स्तुति के योग्य हैं। परन्तु शिव या विष्णु दोनों सर्वज्ञ हैं अतः बिना नवीन स्तुति से उनका मनोरञ्जन न होगा बिना मनोरञ्जन के प्रसन्नता न होगी, बिना प्रसन्नता के कृपा और उसका फल न होगा फिर स्तुति करना निरर्थक है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि—

हे ब्रह्म स्वरूप भगवन्! शहद में भीगी हुई जैसी अत्यन्त मधुर अति-उत्तम अमृत-वेद-वाणी के रचयिता (आप हैं) अतः वृहस्पति की वाणी भी क्या आप के लिए आश्चर्य (चमत्कार) कर सकती है? फिर भी हे त्रिपुरासुर के नाशक प्रभो! मेरी बुद्धि (अपनी) मलीन वासना पूर्ण वाणी को आप के गुणगान जन्य पुण्य से पवित्र करने (धोने) के लिए आपकी स्तुति रूप कार्य में प्रयास करने चली है ।।३।।

हे ब्रह्मन् भोले नाथ! देवों के देव ब्रह्मा की वाणी भी क्या आप को चमत्कृत कर सकती है? यहां आक्षेप में किं शब्द है अर्थात् चमत्कार नहीं कर सकती है। इस विषय में हेतु पूर्ण मधुस्फीता आदि विशेषण दिये गये हैं। आप कितने समर्थ हैं (इतने से ही जाना जा सकता है) कि वेद वाणियों को (अपने) श्वास के समान बिना श्रम प्रकट करते हैं। वे वेद वाणियाँ भी कैसी हैं? मधु के समान मधुर हैं। अर्थात् माधुर्य (प्रसाद) आदि गुणों से तथा अलंकारों से विभूषित होने

परमममृतं निरतिशयामृतवदत्यास्वाद्यम्। एतेनार्थगतमाधुर्यमुक्तम्। परमेश्वरवाचां शव्दार्थगतयोर्निरतिशयमाधुर्ययोरपि मिथस्तारतम्यं मध्वमृतशव्दाभ्यां द्योत्यते। अयं च वाचामुत्कर्षो महान् यत्र शव्दगुणालङ्कारतिशयं विनार्थगुणालङ्कारातिशय इति। यत्र हिरण्यगर्भस्य वाण्यपि न चमत्कारकारणं तत्र का वार्ताऽस्मदादिवाण्या इत्यर्थः। तर्हि किं स्तुत्येत्यत आह—मम त्वित्यादि। हे पुरमथन त्रिपुरान्तक भवतो गुणकथनपुण्येन-एतां स्वां वाणीं पुनामि निर्मलीकरोमीत्यभिप्रायेणैतस्मिन्नर्थे स्तुतिरूपे मम बुद्धिर्व्यवसितोद्यता नतु स्तुतिकौशलेन त्वां रञ्जयामि इत्यभिप्रायेणेत्यर्थः। वाङ्नैर्मल्येन मनोनैर्मल्यं नान्तरीयकमिति स्तुतेः सार्थक्यमुक्तम्।। हरिपक्षेऽप्येवम्। मथ्यतेऽस्मिन्दध्यादीति मथनं गोकुलम्, अथवा मथ्यन्ते-आपोऽमृतार्थमिति मथनः क्षीरोदः पुरं मन्दिरं गोकुलं क्षीरोदो वा यस्येति पुरमथन सम्वोधनार्थः। सर्वमन्यत्समान्। अथवा हे ब्रह्मन्! वाचः सर्वस्या अपि परमममृतं निरतिशयसारं निश्चयेन मितवतः सम्यगनुभूतवतः सुरगुरोहिरण्यगर्भादि-सर्वदेवतोपाध्यायस्य तव मधुस्फीता मधुरिम्णा व्याप्ता अन्तरा कटुत्वलेशेनापि रहिता वागपि वाग्देवता सरस्वत्यपि

के कारण अतिशय मधुर हैं।

(इससे भी और उत्तम यह है) कि अमृत का भी (साररूप) अमृत अतिशय सुस्वादु है। इस कथन से अर्थ में भी माधुर्य भरा है। कहा गया है कि परमात्मा की वाणी का शब्द तथा अर्थगत अतिशय माधुर्य दोनों में है। अर्थात् शब्दगत माधुर्य की अपेक्षा अर्थ-गत माधुर्य विशेष है। यह बात मधु एवं अमृत शब्दों द्वारा व्यक्त होती है। यह तो वाणी का बहुत बड़ा गुण है कि जिसमें शब्दों का गुण रूप अलङ्कार न होने पर भी अर्थ के गुण अलङ्कार की विशेषता हो। जिसे हिरण्यगर्भ की वाणी भी विस्मित नहीं कर सकती उसके लिए अपने जैसे विचारों की वाणी में तो कहना ही क्या है। तब तो स्तुति क्यों की जाय। उसका क्या प्रयोजन है इसमें आगे कहा कि हे पुरमथन! त्रिपुरासुरनाशक! प्रभो! आप के गुणगण गान से उत्पन्न पुण्य विशेष से अपनी इस वाणी को निर्मल करूँगा, इसी आशय (प्रयोजन) से स्तुति रूप कर्म में मेरी बुद्धि विशेष उत्साह से उद्यमशील है। न कि "स्तवन में कुशलता दिखा कर आपको प्रसन्न करूंगा" यह अभिप्राय है। वाणी के निर्मल होने से मन की निर्मलता भी साथ ही हो जाती है इस प्रकार स्तोत्र की सफलता भी कही जा चुकी। भगवान् विष्णु के पक्ष में भी इसी प्रकार अर्थ है—जहां दधि आदि मथा जाता है वह मथन गोकुल है दूसरे प्रकार से अमृत के लिए जल मथा जाता हो ऐसा क्षीर सागर अर्थात् गोकुल ही पुर है या क्षीर-सागर पुर है। सम्बोधन में हे पुरमथन! गोकुल वासिन् क्षीर सागर शायिन् भगवन्! होगा। शेष समान है। हिरण्यगर्भ की वाणी आप को विस्मित नहीं कर सकती है। दूसरे प्रकार अर्थ कहते हैं, हे ब्रह्मन् आप सभी की वाणी के सारतर सार निश्चितरूप से अनुभव कर चुके हैं। आप देवों के देव हैं हिरण्यगर्भ आदि सभी देवों के भी शिक्षक आचार्य गुरु हैं। आपकी वाणी माधुर्य से पूर्ण है अति सरस है भीतर में कड़वापन का लेश भी नहीं है।

क्या वाणी देवता सरस्वती भी आपको चमत्कृत कर सकती हैं?

किं विस्मयपदम्। नेत्यर्थः। तस्या मद्वाचश्च महदन्तरमतिप्रसिद्धमेव। यद्यप्येवं तथापि त्वदिच्छयैव ममेयं प्रवृत्तिरित्याह—मम त्वेतामिति। निजगुणकथनपुण्येन ममत्वेतां ममत्वे वर्तमानां संसारसंसर्गकलुषितां वाणीं वाचम्। एतस्य स्तुतिकर्तुरिति शेषः। पुनामि निष्कलुषां करोमीत्येतस्मिन्नर्थे हे पुरमथन! भवतो बुद्धिर्व्यवसिता यतोऽतोऽनायत्तैव मम प्रवृत्तिरित्यर्थः। श्रुतिश्च भवति "एष[1] उ ह्येव साधुः कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कारयति यमधो निनीषते" इति। स्मृतिश्च "अज्ञो[2] जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" इति। तेन परमकारुणिकस्त्वं शरणागतवाणीपावनपुण्यहेतुस्तुति तत्परं लोकं कर्तुं स्वयमेव प्रयतमानो यया कयापि स्तुत्या प्रसीदसीत्यर्थः ।।३।।

एवं हरिहरयोः स्तुत्यत्वं सकलस्तुतिकत्वं च निरूप्य ये केचित्पापीयांसस्तस्य सद्भावेऽपि विवदन्ते तान्निराकुर्वन् स्तौति—

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्,
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृसु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन् वरद रमणीयामरमणीम्,
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ।।४।।

---

१. कौ० ब्रा० ३।
२. योगवासिष्ट प्रकरण २, सर्ग ६, २६।

कभी भी नहीं। सरस्वती तथा हमारी वाणी का अन्तर (संसार में) प्रसिद्ध ही है। फिर भी (हे नाथ) आपकी इच्छा से ही हमारी यह प्रवृत्ति हो रही है इस विषय में आगे पुष्पदन्त ने कहा—इस स्तुतिकर्त्ता की वाणी संसार में अत्यन्त कलुषित हो गई है इस प्रकार ममता में जाकर अपने गुणगान के पुण्य से इसे परम पवित्र करूँगा। इस रूप से हे भगवन् आपकी बुद्धि उद्योग-शील है इसी से मेरी स्तुति कर्म प्रवृत्ति मेरे अधीन नहीं है। इसमें श्रुति भी साक्षी है—। यह परमात्मा "जिसे ऊपर उठाने (उद्धार) की इच्छा करता है उससे श्रेष्ठ कर्म कराता है और जिसे नीचे ले जाने की इच्छा करता है उसके द्वारा निन्दित (हीन) कर्म कराता है"। इसी प्रकार और स्मृति वाक्य भी है। यह अज्ञानी जीव "अपने सुख दुःख भोग में पराधीन है" इसलिए आप दयालु हैं करुणा-सागर हैं। शरणागतों की वाणी पवित्र करने के व्रती हैं, कारण हैं। लोगों को स्तुति कर्म में प्रवृत्त करने के लिए स्वयं प्रयत्न-शील हैं। अतः आशय यह है कि जैसी तैसी स्तुति से भी भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं ।।३।।

इस प्रकार भगवान् शिव और विष्णु दोनों स्तुत्य हैं तथा स्तोत्र भी सफल है यह बता कर जो अधम पापी उस परमात्मा की सत्ता में भी विवाद करते हैं। उनका खण्डन करते हुए स्तवन करते हैं—

हे वरदायिन् भगवान् शिव! आपके जगत् की सृष्टि पालन तथा संहार कर्त्तव्य का ऋग्, यजु, सामवेद, निष्कर्ष रूप से वर्णन करते हैं। उसी प्रकार (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तीनों मूर्तियों (देहों) में बटा हुआ जो इस ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध वह आपका ऐश्वर्य (शक्ति) है। उसका निराकरण (खण्डन) करने के लिए कुछ जड़ बुद्धि अभागे नास्तिक लोग अल्प बुद्धि मूढ़ों को अच्छी जान पड़ने वाली पर स्वभाव से हानि कारक असत्कल्पना (कुतर्क) व्यर्थ का बकवाद आपके ऐश्वर्य के सम्बन्ध में उठाते रहते हैं ।।४।।

तवेति। हे वरद! ईप्सितप्रद यत्तव ऐश्वर्यं तद्विहन्तु निराकर्तुम् एके जडधियः केचिन्मन्दबुद्धयः व्याक्रोशीं विदधते साक्षेपमुच्चैर्भाषणमाक्रोशस् तस्य व्यतिहारो व्याक्रोशी। अन्येन कर्तुमारब्धमन्यः करोति अन्येन चान्य इति कर्मव्यतिहारः। व्याङ्पूर्वात् क्रुशेः "कर्मव्यतिहारे[1] णच् स्त्रियाम्" इति पाणिनिस्मरणात् ततः स्वार्थेऽञ् "णचः[2] स्त्रियामञ्" इति सूत्रात्। ततः स्त्रियां ङीप्। तां व्याक्रोशीमहमहमिकया कुर्वते यत्सर्वप्रमाणप्रमितं तदपि जिघांसन्तीति यत्तद्भ्यां मन्दबुद्धित्वं द्योतितम्। अतएव कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विदधतेरात्मनेपदम्। नहि तद्व्याक्रोशीविधानात्तवैश्वर्यव्याघातः किन्तु तेषामेवाधःपात इत्यर्थः। कीदृशं तवैश्वर्यम्। जगदुदयरक्षाप्रलयकृत् जगत आकाशादिप्रपञ्चजातस्योदयं सृष्टिम्, रक्षां स्थितिम्, प्रलयं संहारं च करोतीति तथा। अनेनानुमानमुक्तम्। तच्च "अजन्मानो लोकाः" इत्यत्र व्यक्तं वक्ष्यते। तथा त्रयीवस्तु त्रय्याः त्रयाणां वेदानां, तात्पर्येण प्रतिपाद्य वस्तु "सर्वे वेदा[1] यत्पदमामनन्ति" इति श्रुतेः। अनेनागमप्रमाणमुक्तम्। तथा गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः ली (लयात्तै) लोपात्तैर्भिन्नासु पृथक्कृतासु। वस्तु

---

१. पा० सू० ३।३।४३।)

२. पा० सू० ५।४।१४।

१. कठः, २ वल्ली, १५।

हे वरदायिन्!" समस्त-पदार्थ-दायक भगवन्! आपके प्रसिद्ध ऐश्वर्य का खण्डन करने के लिए कुछ मन्दमति लोग व्यर्थ का मिथ्या प्रलाप करते हैं। आक्षेप के साथ जोर जोर वोलना वह भी परस्पर मिल-जुल कर अस्पष्ट हो (उसको व्याक्रोशी कहा है) एकके करने योग्य कार्य को अन्य व्यक्ति करे इसे कर्मव्यतिहार कहते हैं। "वि आङ् उपसर्गपूर्वक क्रुशधातु से कर्मव्यतिहार अर्थ में स्त्री लिङ्ग की अपेक्षा से णच् प्रत्यय होता है, इस प्रकार पाणिनि ने विचारा है, उसके वाद स्वार्थ में "णचः स्त्रियामञ्" वाद में स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होकर (व्याक्रोशी) शव्द वनता है। उसी व्याक्रोशी द्वारा सर्व प्रमाण सिद्ध वस्तु (ऐश्वर्य) का निराकरण करते हैं।

इसलिए श्लोक में "यत् तत्" पदों द्वारा उन्हें मन्दबुद्धि होने का संकेत किया है अतः क्रिया फल कर्ता में जाने से विउपपद दा धातु का आत्मनेपद में प्रयोग है। अर्थात् उनकी व्याक्रोशी से हे नाथ! आपके ऐश्वर्य का खण्डन नहीं हो सकता परन्तु उलटे उन व्याक्रोशी करने वालों का ही अधःपतन है और होगा। यही सत्य अभिप्राय है। आपका ऐश्वर्य कैसा है? (इस जिज्ञासा में आगे लिखते हैं) आकाशादि प्रपञ्च समुदाय रूप जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय करने का कारण (आपका ऐश्वर्य ही तो है) इस कथन से अनुमान का प्रतिपादन हुआ। जिसको आगे छठवें श्लोक में कहेंगे। उसी प्रकार तीनों वेद तात्पर्य[१] रूप से उसी ऐश्वर्य का प्रतिपादन करते हैं। "सभी वेद जिस प्राप्तव्य स्वरूप का निर्वचन (व्याख्यान) करते हैं" इस श्रुति वाक्य से (उसी तात्पर्य को दिखाते हैं) इस मन्त्र के निर्देश से शास्त्र प्रमाण है (ऐश्वर्य में) यह कहा गया है। तथा सत्व रजः तमो गुणों द्वारा—अपनी इच्छा से ग्रहण किये गये हैं और वे अलग अलग हैं वास्तविक रूप से तो अभेद ही है। (तो भी) वह ऐश्वर्य ब्रह्मा विष्णु एवं महेश नाम से

१. अध्यारोपापवाद द्वारा सभी वाक्य एक सत् कारण रूप परमात्मा का ही निर्वचन करते हैं। उनका सारांश वही परमात्मा है।

वस्तुगत्याभेद इत्यर्थः। तिसृषु तनुषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यासु मूर्तिषु व्यस्तं विविच्य न्यस्तम्। प्रकटीकृतमिति यावत्। उपलक्षणं चैतत्सर्वेषामवताराणाम्। एतेन प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम्। तेन सर्वप्रमाणप्रमितमित्यर्थः। कीदृशीं व्याक्रोशीम्। अस्मिन्नभव्यानाम् अस्मिन् त्रैलोक्येऽपि नास्ति भव्यं भद्रं कल्याणं येषां तेऽभव्यास्तेषां रमणीयां मनोहरां वस्तुतस्त्वरमणीम् अमनोहराम्। अमनोहरेऽपि मनोहर बुद्धिभ्रान्तिरभाग्यातिशयात्तेषामित्यर्थः। हरिपक्षेऽप्येवम्। अथवा अस्मिंस्तवैश्वर्ये अभव्यानां मध्ये जडधियो जडमतेरत्यन्तमपकृष्टस्येत्यर्थः। तस्य वस्तुतोरमणीं व्याक्रोशीं विहन्तुम् एके मुख्या रमणीयां व्याक्रोशीं विदधत इत्यर्थः। जडधिय इत्येकवचनेन पूर्वपक्षिणस्तुच्छत्वम्। एक इति बहुवचनेन सिद्धान्तिनामतिमहत्त्वं सूचितम् ।।४।।

ये त्वात्मप्रत्यक्षमपह्नुवते त्रयीं चान्यथा वर्णयन्ति, तेऽनुमानेनैव निराकार्या। तच्चानुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् इति जगदुदयरक्षाप्रलयकृदित्यनेन सूचितम्। तत्र पूर्व श्लोकोक्तव्याक्रोशीबीजप्रतिकूलतर्कमुद्भावयन्तः पूर्वपक्षिणो निराकुर्वन् स्तौति। अथवा कीदृशीं व्याक्रोशीं विदधत इत्याकाङ्क्षा तां वदन् स्तौति—

किमीहः किङ्कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्,
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।

प्रसिद्ध तीनों शरीरों में अलग अलग बँटकर स्थित है। अर्थात् उन तीन शरीरों से वह ऐश्वर्य आपने प्रकट किया है। यह तीन शरीर का कथन तो सभी अवतार शरीरों का निर्देशक है। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण भी बताया गया। इसी से आपका ऐश्वर्य सर्वप्रमाण सिद्ध है यह आशय है। वह व्याक्रोशी भी क्या कर सकती है इसे दिखाते हैं। इस त्रैलोक्य के भीतर उन अभागों का कल्याण नहीं है वे अत्यन्त हीन हैं। उन्हें वह व्याक्रोशी (ऊटपटांग कल्पना) प्रिय लगती है। सही सही में तो वह मनोहर है ही नहीं। मनोहर न होने पर भी उसमें मनोहर बुद्धि हो जाना उनके बढ़े हुए अभाग्य के कारण ही है, यही निष्कर्ष है।

हरि पक्ष में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। अथवा आपके इस ऐश्वर्य में अभागों में भी जो अतिशय अभागे हैं, अतिशय जड़ बुद्धि हैं, नीच हैं उनकी वास्तव में अनर्गल व्याक्रोशी का कुछ उत्तम जन अच्छी अच्छी व्याक्रोशी (उद्घोषणा) करते हैं। 'जड़धियः' यहां षष्ठी के एक वचन से पूर्वपक्षियों की अति निकृष्टता तथा 'एके' यह वहुवचन से सिद्धान्तिजनों में महत्त्व सूचित किया गया है ।।४।।

जो लोग स्वयं प्रत्यक्ष का अनादर करते हैं तथा वेदत्रय के अर्थों को उलटा लगाते हैं वे अनुमान के ही द्वारा खण्डन के (निराकरण के) पात्र हैं। वह इस प्रकार है—'पृथ्वी का, कोई कर्ता है। कार्य होने से, घट के समान' इस प्रकार (परमात्मा) जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय कर्ता है। चौथे श्लोक में व्याक्रोशी का कारण विपरीत-तर्ककारी पूर्ववादियों का निराकरण करते हुए भगवान् की स्तुति करते हैं। अथवा उन (मन्दमतियों) की व्याक्रोशी के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर व्याक्रोशी का रूप वताते हुए स्तुति कर रहे हैं—

वह विधाता (ब्रह्मा) तीनों लोकों का निर्माण में कैसी चेष्टा करता है? किस प्रकार उसकी जगत् रचने के लिए इच्छा होती है,

अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः,
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ।।५।।

किमिति। हे वरदेति पूर्वश्लोकात् सम्बोधनानुषङ्गः। त्वयि विषये कुतर्कस्तर्काभासः कांश्चिद्धतधियः कानपि दुष्टबुद्धीन् जगतो विश्वस्यापि मोहायाऽन्यथा प्रतिपत्तये मुखरयति वाचालान् करोति। कीदृशे त्वयि? अर्तक्यं तर्कागोचरमैश्वर्यं यस्य तस्मिन् सर्वतर्कागोचरे त्वयि यः कश्चित् तर्कः स्वातन्त्र्येणोपन्यस्यते स सर्वोऽप्याभास इत्यर्थः। प्रमाणानां स्वगोचरशून्यत्वात्स्वागोचरे प्रामाण्याभावो युक्त एवेति भावः। कुतर्कमेवाह–किमीह इत्यादिना।

स धाता परमेश्वस्त्रिभुवनं सृजतीति सिद्धान्तमनूद्य तत्र दूषणमाह। खलु किन्तु का ईहा चेष्टा यस्येति किमीहः। तथा कः कायः शरीरं कर्तृरूपं यस्येति किङ्कायः। क उपायः सहकारि कारणमस्येति किमुपायः। क आधारोऽधिकरणमस्येति किमाधारः। किमुपादानं समवायिकारणं भुवनाकारेण निष्पाद्यमस्येति किमुपादानः सर्वत्र किं शब्द आक्षेपे इति शब्दः प्रकारार्थः। च शब्दः शङ्कान्तरसमुच्चयार्थः। कुलालो

कैसा स्वरूप (देह) है? उसके साधन क्या हैं? उपादान कारण क्या होता है? और कहां बैठता है जहां से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है, इस प्रकार का (कुबुद्धि कल्पित) कुतर्क, सब तर्क के अविषय (अचिन्त्य, ऐश्वर्य-सम्पन्न) आपके विषय में स्थिरता न पाकर डगमगाता हुआ भी सांसारिक जनों को मोह (भ्रम) में डुबा रखने के लिए, कुछ बुद्धिहीनों को प्रलापी बनाता है ।।५।।

इस श्लोक में चौथे श्लोक में स्थित वरद! यह सम्बोधन लाना आवश्यक है। हे वरद! आपके सम्बन्ध में तर्काभास (असिद्ध तर्क) कुछ हतबुद्धिजनों को संसार के प्राणियों को मोह में फंसाने के लिए उलटा ज्ञान देकर बकवादी बनाता रहता है। कैसे आप हैं (इस जिज्ञासा में) समस्त तर्कों से आप परे हैं क्योंकि आपका ऐश्वर्य ही तर्कों का विषय नहीं है। जब किसी तर्क का विषय ही नहीं है तब यदि किसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से कोई तर्क उपस्थित करे तो वह तर्काभास ही तो होगा। प्रमाण अपने को विषय नहीं करते। इस प्रकार अपने विषय में प्रामाण्य न होना युक्ति-युक्त ही है। (अर्थात् जो सभी का ज्ञाता है उसे कौन किस साधन से जानेगा) उन कुतर्कों को कहते हैं किमीहः "जगत् कर्ता वह परमेश्वर त्रैलोक्य की रचना करता है" इस प्रकार सिद्धान्त का अनुवाद कर उसमें पूर्ववादी ने दोष बताया। मान लें परमेश्वर जगत् करता है पर कैसी उसकी चेष्टा होगी? जगत् रचने के लिए उसका शरीर कैसा होगा?सहकारी कारण रूप उपाय क्या हो सकते हैं। अर्थात् कौन साधन सहायक है। उसके बैठने के लिए आधार (अधिकरण) क्या है। उपादान कारण क्या (उसके पास) है जिसे वह भुवनाकार में परिणत कर देता है। (जैसे मट्टी को कुम्हार घड़े के रूप में बना देता है) यहां सभी "किं" शब्द आक्षेप में आये हैं। "इति" शब्द प्रकार में और "च" शब्द अन्य शङ्काओं के (जिन्हें नहीं दिखाया) संकलन के लिए है। क्रिया में दक्ष व्यक्ति (कुंभार आदि) घट बनाता हुआ अपने

हि घटं कुर्वन् स्वशरीरेण व्याप्रियमाणेन चक्रभ्रमणादिचेष्टया सलिलसूत्राद्युपायेन चक्रादावाधारे मृदमुपादानभूतां घटाकारां करोति, एवं जगत्कर्ताऽपि वाच्यः। तथा च कुलालादिवदनीश्वर एवित्यभिप्रायः। घटादिदृष्टान्तेन खलु क्षित्यादेः सकर्तृकत्वं साध्यते। तथा च घटादिकर्तरि कर्तृत्वौपयिकं यावद्दृष्टं क्षित्यादिकर्तर्यपि तावदवश्यं स्वीकर्तव्यम्, दृष्टन्तस्य तुल्यवात् तथा चोभयतःपाशारज्जुः। तदङ्गीकारेऽस्मदादितुल्यत्वात् अनीश्वरत्वम्, तदनङ्गीकारे च कर्तृत्वानुपपत्त्याऽसिद्धिरेवेत्येवंरूपः कुतर्क इत्यर्थः। सिद्धन्तं वदन् कुतर्कं विशिनष्टि अनवसरदुःस्थः। नास्त्यवसरोऽवकाशोऽस्येत्यनवसरः अतएव दुःस्थो दुष्टत्वेन स्थितः। विचित्रनानाशक्तिमायावशेन सर्वनिर्मातरि सर्वतर्कागोचरे त्वयि नास्ति कुतर्कावसर इत्यर्थः। तथा चोक्तम्—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'' इति। न च घटादिकर्तरि यावद् दृष्टं तावात्क्षित्यादिकर्तर्यपि साधनीयम्, व्याप्तिं विना सामानाधिकरण्यमात्रस्यासाधकत्वात्। अन्यथा महानसे धूमवह्न्योर्व्याप्तिग्रहणसमये एव व्यञ्जनादिमत्त्वमपि दृष्टम् इति पर्वतादावपि तदनुमानं स्यात्। तस्मात् साधर्म्यसमा जातिरेषा। स्वव्याघातकत्वादनुत्तरम्। पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरित्युपरम्यते। हरि

१. पञ्चदशी, ६ प्रकरण, १५०।

शरीर से व्यापार करता हुआ चाक घुमाना आदि क्रिया से जल, सूत (और दण्ड) आदि साधन से चाक पर मृत्तिका रूप उपादान कारण को घट के आकार में बना देता है। इसी प्रकार जगत् कर्ता ईश्वर को भी कहना होगा। ऐसा मानने पर कुंभार के समान वह भी साधारण व्यक्ति ही होगा; न कि ईश्वर यह अभिप्राय है। घट आदि दृष्टान्त द्वारा पृथिवी आदि को कर्तृरचित सिद्ध करने पर घटादि कर्ता में कर्ता के इतर जितने साधन समुदाय देखे गये हैं वे सबके सब पृथिवी आदि के कर्ता के लिए भी मानने चाहिए क्योंकि (घट कर्ता जगत् कर्ता रूप) दृष्टान्त समान है। ऐसा मानने पर तो दोनों ओर से बन्धन के लिए रस्सी आपके गले में पड़ती है। यदि साधन सामग्री सहित मानेंगे तो हम लोगों के समान ही साधारण व्यक्ति है तब जगत् कर्ता कैसे होगा। यदि साधन हीन है तो कर्ता की सिद्धि न होने से (ईश्वर) की भी असिद्धि ही रहेगी। इस प्रकार के कुतर्क हैं। सिद्धान्त बताते हुए कुतर्क की विशेषता दिखाते हैं। ये कुतर्क बिना किसी आश्रय के ही हैं। अतः एव बड़ी दयनीय दुःस्थिति में हैं। विविध अनेक शक्तिवाली माया के द्वारा सभी के रचयिता सभी तर्कों से अज्ञेय (भगवन्) आप में कुतर्क की गुञ्जाइश कहां हो सकती है। इसी सम्बन्ध में "जो पदार्थ अचिन्त्य है कल्पना से परे है उन्हें तर्क में नहीं जोड़ना चाहिए" इस प्रकार कहा है। घटादि पदार्थ के कर्ता में कितने साधन देखे गये उसी प्रकार उतने जगत् निर्माता में भी हैं। यह कल्पना नहीं कर सकते। व्याप्ति के बिना एक साथ एक स्थान पर रहने मात्र से कोई वस्तु किसी को सिद्ध कराने वाली नहीं हो सकती। यदि ऐसा न माना जाये तो भोजनालय में अग्नि के साथ धुएँ को देखकर व्याप्ति निश्चय करने के समय व्यञ्जन (बर्तन आदि) भी देखा गया इतने से तो पर्वत आदि में (धूम देखने पर अग्नि के साथ) भोजनादि का भी अनुमान होने लगेगा। इसलिए असत् तर्क के समान ही साधनादि विषयक शङ्का है। क्योंकि

पक्षेऽप्येवम् ।।५।।

एवं प्रतिकूलतर्कं परिहृत्यानुकूलतर्कुमद्भावयन् स्तौति-

अजन्मानो लोकः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद्भु वनजनने कः परिकरो,
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ।।६।।

अजेति। हे अमरवर सर्वदेवश्रेष्ठ, अवयववन्तोऽपि सावयवा अपि लोकाः क्षित्यादयः किमजन्मानो जन्महीनाः। किं शब्द आक्षेपे, तेन न जन्महीना किन्तु जन्या एवेत्यर्थः। तेन सावयवत्वेन क्षित्यादेर्न जन्यत्वहेतोरसिद्धत्वम् "[1]यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्" इति न्यायात् स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वेनैव जन्यत्वनियमाच्च। तथा जगतां क्षित्यादीनां भवविधिरुत्पत्ति-क्रियाऽधिष्ठातारं कर्तारम् अनादृत्यानपेक्ष्य किं भवति? अपेक्ष्यैव भवतीत्यर्थः। तेन कार्यत्वसकर्तृत्वयोरव्यभिचारान्नानैकान्ति-कत्वं हेतोः। तथाऽनीशो वा, ईश्वरदन्यो वा यदि कुर्यात् तर्हि भुवनजनने परिकरः का सामग्री। अनीश्वरवस्य स्वशरीर रचनामप्यजानतो विचित्रचतुर्दशभुवनरचनाऽसम्भवात् ईश्वर

---

१. ब्रह्मसूत्र २।३।६।

अपना ही पक्ष नाशक होने से अनुत्तरणीय है। इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने बहुत (निराकरण) किया है अतः इतने से इस विषय में विराम लेते हैं। इसी प्रकार हरि पक्ष में भी समझना चाहिए ।।५।।

विरोधी तर्क का निराकरण करके स्वानुकूल तर्क का निरूपण करते हुए स्तुति करते हैं।

हे देवों में श्रेष्ठ भगवन्! ये प्रत्यक्ष दिखाई देते हुए लोक (भूत भौतिक जगत्) सावयव होते हुए भी क्या विना जन्म के ही हैं (अर्थात् सावयव जन्य एवं नाशवान् ही होते हैं) क्या जन्म रक्षा एवं नाश रूप जगत् विना कर्ता के ही उत्पन्न हुआ है। या कोई साधारण जीव ही सभी का कर्ता है। यदि असमर्थ जीव ही करता है तो फिर १४ भुवनों को बनाने के लिए उसके पास कौन साधन हैं? व्यर्थ की शङ्काएँ इस प्रकार की क्यों करते हैं? इसलिए कि वे मन्द भाग्य एवं मन्द बुद्धि है। यही कारण है वे आपके सम्बन्ध में शङ्का करते रहते हैं ।।६।।

देवों में श्रेष्ठ भगवन् सावयव पृथिवी आदि (पञ्चभूत) क्या विना जन्म के ही हैं। "किं" शब्द आक्षेप अर्थ में है। अतः वे (लोक) विना जन्म के नहीं है। परन्तु जन्म वाले ही हैं। इससे अवयव सहित होने से पृथिवी आदि में जन्यत्व हेतु की असिद्धि नहीं हो सकती है। "जहां तक विकार है वहां तक कारण की स्थिति है जैसे लोक में देखा जाता है" इस न्याय से कारण के समान सत्ता में अभावीय प्रतियोगित्व होने से ही उत्पत्ति नियम कार्य के भी हैं। तथा पृथिवी आदि की भवविधि (उत्पत्ति कर्म) क्या कर्ता के विना ही हो जाती है?

अर्थात् कर्ता की अपेक्षा से ही (भवविधि) होती है। अतएव कार्यत्व हेतु और सकर्तृकत्व साध्य का व्यभिचार न होने से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी नहीं है। इसी प्रकार यदि ईश्वर से अतिरिक्त साधारण जीव (भवविधि) करे तो भवनों की उत्पत्ति के लिए साधन सामग्री क्या होगी? साधारण जीव अपने देह की रचना को भी नहीं जानता है। फिर अनेक-विध वैचित्र्यपूर्ण चौदह भुवन रचना तो असम्भव ही है

एव रचनां करोत्यर्थः। परिकरमिति पाठे को वानीश्वरो भुवन-जनने परिकरमारम्भं कुर्यात्। अपितु ईश्वर एव कुर्यादित्यर्थः। एतेनार्थान्तरता परिहृता। एवमनुमानदोशानुद्धृत्य शङ्कितदोषान्तरं निराकुर्वन् उपसंहरति यत इति। यत एव सर्वप्रमाणसिद्धस्त्वम्, अतस्ते मन्दा मूढा न तु विद्वांसः इमे ये त्वां प्रति संशेरते सन्देहवन्तः किमुतविपर्ययवन्त इत्यर्थः। "[1]जन्माद्यस्य यतः" इति न्यायेन "[2]यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म" "[2]आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिश्रुतिरेव परमेश्वरे प्रमाणम्। अनुमानं त्वनुकूलतर्कमात्रं श्रुते र्न स्वातन्त्र्येण प्रमाणामिति द्रष्टव्यम् हरिपक्षेऽप्येवम् ।।६।।

एवं तावत्प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य भगवद्विमुखान्निरस्य सर्वेषां शास्त्रप्रस्थानानां भगवत्येव तात्पर्यं साक्षात् परम्परया वेति वदन् स्तौति—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।७।।

---

१. ब्रह्मसूत्र, १ अ० १ पाद, २ सूत्र।
२. तैत्ति० भृगु० १ अनुवाक।

अतः ईश्वर ही (जगत् की) रचना करता है। किसी पुस्तक में "परिकरम्" ऐसा श्लोक में पाठ है। उसका अर्थ होगा कौन जीव भुवनों के जन्म के निमित्त उद्योग करेगा। यूँ तो ईश्वर ही करेगा। इस कथन द्वारा ईश्वर से अन्य (परमाण्वादि) कारण भी निराकृत किये जा चुके हैं। इस प्रकार (अपने) अनुमान में संभावित दोषों की शंका को हटाकर अन्य दोषों का खण्डन करते हुए उपसंहार करते हैं 'यतः' से भगवान्! जब आप सब प्रमाणों से सिद्ध हैं। फिर भी आपके प्रति जो शङ्का करते हैं वे मूर्ख ही तो हैं। वे विद्वान् कैसे माने जा सकते हैं। जब उन मूढ़ों को सन्देह ही है तो विपरीत ज्ञान भी है इसमें कहना ही क्या "इस जगत् के जन्म स्थिति एवं नाश जिस (परमेश्वर) से होते हैं" ये सभी भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवन और स्थिति प्राप्त करते हैं। एवं जिसमें विनाश के समय लीन हो जाते हैं। वह ब्रह्म है। आनन्द ब्रह्म है। इस प्रकार (भृगुने) जाना इत्यादि। श्रुति वाक्य ही परमेश्वर में प्रमाण है। अनुमान तो श्रुति के अनुकूल तर्क ही है न कि वह स्वतन्त्र प्रमाण है यह समझना चाहिए। विष्णु पक्ष में भी इसी प्रकार अर्थ करना संगत है ।।६।।

पूर्व कथन से अब तक विरोधितर्क का खण्डन करके मगवद्विमुखों का निराकरण करके सभी शास्त्र मार्गों (शास्त्रीय परम्पराओं) का भगवान् में ही सीधे अथवा चक्कर काटकर तात्पर्य है यह कहते हुए स्तुति करते हैं—

तीनों वेद सांख्य शास्त्र, योग शास्त्र, पाशुपत मत वैष्णव मत आदि विभिन्न मतान्तर हैं। उनमें कोई तो हमारा मत (मार्ग) अति उत्तम है, लाभप्रद है अन्य का नहीं इस प्रकार लोगों की रुचियों के अनेक रूप होने पर भी अपनी अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार सीधे टेढ़े आदि विविध मार्गों से गमन करते हुए पथिकों के लिए सब दिशाओं से सीधे टेढ़े (किसी प्रवाह के भीतर मिलकर) आदि मार्गों से बहने वाले जल स्रोत के गन्तव्य सागर के समान भगवन्? एक आप ही प्राप्तव्य हैं, दूसरा प्राप्तव्य नहीं है ।।७।।

त्रयीति। हे अमरवर नाना संकीर्णाः पन्थानः नानापथाः- ऋजवश्च कुटिलाश्च ऋजुकुटिलाः ऋजुकुटिलाश्च ते नानापथाश्चेति ऋजुकुटिलनानापथास्ताञ्जुषन्ते भजन्तीति तथा तेषां नृणामधिकार्यनधिकारिसाधारणानां तत्तत्साधनानुष्ठानैः साक्षात् परम्परया वा त्वमेवैको गम्यः प्राप्यः न त्वन्यः कश्चिदित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह पयसामर्णव इव। यथा ऋजुपथजुषां गङ्गानर्मदादीनां साक्षादेव समुद्रः प्राप्यः, यथा वा कुटिलपथजुषां यमुनासरय्वादीनां गङ्गादिप्रवेशद्वारा परम्परया, एवं वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिनिष्ठानां साक्षात्त्वं प्राप्यः अन्येषां त्वन्तःकरणशुद्धितारतम्येन परम्परया त्वमेव प्राप्यः चेतनत्वेनैव मोक्षयोग्यत्वात् परमात्माभ्युपगमाच्चेत्यर्थः। ननु ऋजुमार्गे सति तं विहाय किमिति कुटिलमार्गं भजन्ते। ऋजुमार्गस्यैव शीघ्रफलदायित्वात् इत्यत आह-प्रभिन्ने प्रस्थाने इदं परं पथ्यम् अदः परं पथ्यमिति च रुचीनां वैचित्र्यात् तस्मिं-स्तस्मिञ्छास्त्रप्रस्थाने इदमेव श्रेष्ठमिदमेव मम हितमितीच्छा-विशेषाणामनेकप्रकारत्वात् प्राग्भवीयतत्तत्कर्मवासनावशेन ऋजुत्व-कुटिलत्वनिश्चयासामर्थ्यात् कुटिलेऽपि ऋजुभ्रान्त्या प्रवर्तन्त इत्यर्थः। प्रस्थानभेदमेव दर्शयति। त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति। सर्वशास्त्रोपलक्षणमेतत्। तथाहि त्रयीशब्देन वेदत्रयवाचिना

हे अमरश्रेष्ठ भगवान्! अनेक प्रकार के मार्ग हैं। वे कुछ तो सीधे हैं और कुछ टेढ़े हैं। उसी प्रकार कोई लोग सीधे रास्ते से कोई टेढ़े मार्ग से उन मार्गों में आसक्त हैं।

उन मनुष्यों में अपने अपने साधनों के अनुष्ठान से कोई सीधे तथा कोई किसी की सहायता से आपको प्राप्त करते हैं। सभी साधनों एवं मार्गों के द्वारा हे नाथ! आप ही तो प्राप्तव्य हैं। आपसे अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है यह आशय है। यहां इस विषय में दृष्टान्त कहा है। जल प्रवाहों का (गन्तव्य समुद्र के समान) जिस प्रकार सीधे मार्ग से गमन करने वाली गंगा नर्मदा आदि नदियों का सीधे ही प्राप्तव्य समुद्र है। एवं टेढ़े मेढ़े मार्ग गामिनी यमुना सरयू आदि का गङ्गा में प्रविष्ट होकर गंगा द्वारा (समुद्र प्राप्तव्य है) उसी के समान वेदान्त वाक्यों के श्रवण तथा मननादि में तत्पर-जनों के द्वारा साक्षात् प्राप्तव्य आपही हैं। अन्य (वेदान्तातिरिक्त) जनों का अन्तःकरण शुद्धि के न्यूनाधिक भाव से (देर या शीघ्र) परम्परा से आप ही प्राप्तव्य हैं। क्योंकि वे सभी पथिक चेतन ही तो हैं और वे भी परमात्मा को मानते हैं। शङ्का होती है कि सरल सीधे मार्ग के रहते उसे छोड़कर लोग क्यों टेढ़ा मार्ग अपनाते हैं? सीधा मार्ग ही शीघ्र (भगवत् प्राप्ति रूप) फल देता है इस शंका पर आगे पुष्पदन्त ने कहा—प्रस्थान (मार्ग निर्देशक शास्त्र) के अनेक विध होने से यह श्रेष्ठ है हितकर है, (तथा) यह परम उत्तम हितकर है, और पथिकों (साधकों) की रुचियाँ एक समान न होने से उन उन शास्त्र पद्धतियों में यह ही श्रेष्ठ है, यह ही हमारा हितकर है ऐसी विविध प्रकार की इच्छाओं के होने से पूर्वजन्म के अनेक कर्म एवं संस्कार के कारण सीधा टेढ़ा (आदि मार्ग का) निश्चय करने में समर्थ नहीं होती है। तथा टेढ़े मार्ग को भी सीधा समझकर उसमें लग जाते हैं। (आगे) प्रस्थानों की विविधता को दिखाते हैं—वेद सांख्य, योग पाशुपत मत और वैष्णव मत।

यह निदर्शन सभी शास्त्रों के लिए है। अतएव त्रयी शब्द वेद का

तदुपलक्षिता अष्टादशविद्या अप्यत्र विवक्षिताः। तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इति वेदाश्चत्वारः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति वेदाङ्गानि षट्। पुराणानि न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति चत्वार्युपाङ्गानि। अत्रोपपुराणानामपि पुराणेष्वन्तर्भावः। वैशेषिकशास्त्रस्य न्याये वेदान्तशास्त्रस्य मीमांसायां, महाभारत-रामायणयोः सांख्यपातञ्जल-पाशुपतवैष्णवादीनां च धर्मशास्त्रेष्विति मिलित्वा चतुर्दशविद्याः। तथा चोक्तम् "[1]पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश" इति। एता एव चतुर्भिरुपवेदैः सहिता अष्टादशविद्या भवन्ति। आयुर्वेदो, धनुर्वेदो, गन्धर्ववेदोऽर्थशास्त्रं चेति चत्वार उपवेदाः। ता एता अष्टादश विद्यास्त्रयी सांख्यमित्यनेनोपन्यस्ताः। अन्यथा न्यूनताप्रसङ्गात्। सर्वेषां चास्तिकानामेतावन्त्येव शास्त्रप्रस्थानानि। अन्येषामप्येकदेशिनामेष्वेवान्तर्भावात्। ननु नास्तिकानामपि प्रस्थानान्तराणि सन्ति तेषामेतेष्वनन्तर्भावात् पृथग्गणयितुमुचितानि। तथाहि शून्यवादेनैकं प्रस्थानं माध्यमिकानाम्। क्षणिक विज्ञान-मात्रवादेनापरं योगाचाराणाम्। ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकवाह्यार्थ वादेनापरं सौत्रान्तिकानाम्। प्रत्यक्षस्वलक्षणक्षणिकवाह्यार्थवादे-नापरं वैभाषिकानाम्। एवं सौगतानां प्रस्थानचतुष्टयम्। तथा देहात्मवादेनैकं प्रस्थानम् चार्वाकाणाम्। एवं देहातिरिक्तदेह-

---

१. याज्ञ० स्मृति १।३।

वाचक है। उस त्रयी शब्द से उपलक्षित अठारह विद्यायें भी यहां अभिप्रेत हैं। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष ये छः वेद के अङ्ग और पुराण (१८) न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र ये चार वेद के उपाङ्ग हैं। यहां इन्हीं १८ पुराणों मं उपपुराणों का भी अन्तर्भाव है।

वैशेषिक-शास्त्र का न्याय में, वेदान्तशास्त्र का मीमांसा में एवं महाभारत, रामायण, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णवादि मतों का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव है। इस प्रकार सभी मिलकर चौदह विद्या हैं। जैसे—"पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्र और छः वेद के अङ्गों से मिले हुए वेद, चौदह विद्या धर्म के स्थान हैं।" चार उप वेदों के सहित अठारह विद्या हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इस प्रकार चार उपवेद हैं। ये अठारह विद्यायें त्रयी शब्द से कही गई हैं।

(ऐसी गणना उपलक्षण मानकर न की जायें तो) निर्देश स्वल्पमात्र का ही रहेगा। अन्य और जितने एकदेशी हैं उनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव होने से न्यूनता का प्रसङ्ग नहीं है। शङ्का होती है कि—नास्तिकों के भी अन्य प्रस्थान (मत) हैं।

उन नास्तिक शास्त्रों का अठारहों में सन्निवेश नहीं होने से पृथक् गिनना चाहिए। जैसे शून्यवाद माध्यमिकों का एक मत है। क्षणिक विज्ञान ही तत्त्व है बाहरी पदार्थ नहीं है योगाचार का दूसरा मत है।

ज्ञान के आकार से अनुमान द्वारा ज्ञेय क्षण-स्थायी वाहरी पदार्थ है अतः क्षणिक-वाह्य-अर्थवाद मत तीसरा सौत्रान्तिकों का है।

वाहरी अर्थ प्रत्यक्ष है पर स्वलक्षण (निरूपाख्य कल्पनापोढ़) एवं क्षणिक है इस प्रकार चौथा वैभाषिक मत है। पूर्वोक्त चार प्रस्थान वौद्धों के हैं। वौद्धों के समान देह ही आत्मा है ऐसा प्रतिपादक चार्वाक दर्शन है। एवं देह से भिन्न देह के आकार का (जितना देह उतना ही आत्मा) है, ऐसा प्रतिपादक दूसरा दिगम्वर जैनों का सिद्धान्त है। ये

परिमाणात्मवादेन द्वितीयं प्रस्थानं दिगम्बराणाम्। एवं मिलित्वा नास्तिकानां षट् प्रस्थानानि तानि कस्मान्नोच्यन्ते। सत्यम्। वेदवाह्यत्वात्तु तेषां म्लेच्छादिप्रस्थानवत् परम्परयाऽपि पुरुषार्थानुपयोगित्वादुपेक्षणीयत्वमेव। इह च साक्षाद्वा परस्परया वा पुमर्थोपयोगिनां वेदोपकरणानामेव प्रस्थानां भेदो दर्शितोऽतो न न्यूनत्वशङ्कावकाशः। अथ संक्षेपेणैषां प्रस्थानानाम् स्वरूपभेद हेतुः प्रयोजनभेद उच्यते बालानां व्युत्पत्तये। तत्र धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयं प्रमाणवाक्यं वेदः। स च मन्त्रब्राह्मणात्मकः। तत्र मन्त्राः अनुष्ठानकारणभूतद्रव्यदेवताप्रकाशकाः। तेऽपि त्रिविधाः ऋग्यजुसामभेदात्। तत्र पादबद्धगायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा ऋचः। "[1]अग्निमीले पुरोहितम्" इत्याद्याः। ता एव गीतिविशिष्टाः सामानि। तदुभयविलक्षणानि यजूंषि। "अग्नीदग्नीन् विहर" इत्यादिसम्बोधनरूपा निगदसंज्ञामन्त्रा अपि यजुरन्तर्भूता एव। तदेवं निरूपिता मन्त्राः। ब्राह्मणमपि त्रिविधम्। विधिरूपम्, अर्थवादरूपम्, तदुभयविलक्षणं च। तत्र शब्दभावना विधिरिति भाट्टाः। नियोग. विधिरिति प्राभाकाराः इष्टसाधनताविधिरिति तार्किकादयः। सर्वो विधिरपि चतुर्विधः। उत्पत्त्यधिकारविनियोगप्रयोगभेदात्। तत्र देव—

१. म० १, अ० १, सू० १।

सब मिलकर नास्तिकों के छः प्रस्थान (दर्शन या मत) हैं उनका विवेचन क्यों नहीं करते हैं। ठीक है; वे भी दर्शन हैं। पर वेद के बाहर होने के कारण म्लेच्छादि दर्शनों के समान ही परम्परा से भी वे पुरुषार्थ (मोक्ष) के उपयोगी न होने से उपेक्षा के ही योग्य हैं। यहां श्लोक में सीधे अथवा परम्परा से जो पुरुषार्थ के उपयोगी हैं उन वेदों का एवं उनके अनुगामी सहायकों का ही भेद दिखाया गया है, इससे न्यूनता की शङ्का का अवसर नहीं है।

अब पहले लिखे गये शास्त्रों के स्वरूप की भिन्नता के कारण तथा सभी का अपना अपना प्रयोजन सुकुमार-बुद्धिजनों के ज्ञान के लिए कहा जा रहा है। सर्वप्रथम धर्म और ब्रह्म में प्रमाण के लिए अपौरुषेय प्रमाणभूत वाक्य वेद हैं। वह वेद भी संहिता एवं ब्राह्मणरूप है। जिसमें कर्म के अनुष्ठान का कारण द्रव्य और देवता का प्रतिपादक भाग मन्त्र (संहिता) है। वे मन्त्र भी ऋग्, यजुः, और साम भेद से तीन प्रकार हैं। पादक्रम से सुघटित गायत्री त्रिष्टुप् आदि छन्द वाली ॠचाएँ हैं। जैसे (यज्ञ-कर्म) के भीतर पुरोहित अग्रसर (अग्नि) अग्निदेवता की स्तुति करता हूँ।

वे ही मन्त्र ॠचाएँ गायन विशिष्ट होने पर साम हैं। ॠक् और साम से भी विलक्षण यजुः है। (अग्नीद) इत्यादि वाक्य सम्बोधन रूप प्रैषकर्म वाचकमन्त्र भी यजुः के अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार मन्त्र भाग का विवेचन हो गया।

ब्राह्मण भाग भी तीन प्रकार के होते हैं। विधिवाक्य प्रशंसा निन्दारूप एवं दोनों से भिन्न है। जिसमें ज्ञापक-विधि कुमारिल भट्ट के अनुयायी मानते हैं। प्रयोजक विधि प्रभाकर के अनुयायी मानते हैं। तार्किक (नैयायिक) लोग इष्टसाधक विधि मानते हैं। सभी विधियां उत्पत्तिविधि, अधिकारविधि, विनियोगविधि और प्रयोगविधि के भेद से चार प्रकार हैं। देवता और कर्म के स्वरूप प्रतिपादक मन्त्र उत्पत्तिविधि

ताकर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" इत्यादिः। सेतिकर्तव्यताकस्य करणस्य यागादेः फलसम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिः "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिः। अङ्गसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोग विधिः "व्रीहिभिर्यजेत", "समिधो यजति" इत्यादिः। साङ्गप्रधानकर्म प्रयोगैक्यबोधकः पूर्वविधित्रयमेलनरूपः प्रयोगविधिः। स च श्रौत इत्येके। काल्प इत्यपरे। कर्मस्वरूपं च द्विविधम्। गुणकर्म, अर्थकर्म च। तत्र क्रतुकारकाण्याश्रित्य विहितं गुणकर्म। तदपि चतुर्विधम्। उत्पत्याप्तिविकृतिसंस्कृतिभेदात्। तत्र "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत", "यूपं तक्षति" इत्यादावाधानतक्षणादिना संस्कारविशेषविशिष्टाग्नियूपादेरुत्पत्तिः। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" "गां पयो दोग्धि" इत्यादावध्ययनदोहनादिना विद्यमानस्यैव स्वाध्यायपयःप्रभृतेः प्राप्तिः "सोममभिषुणोति" "व्रीहीनवहन्ति" "आज्यं विलापयति" इत्यादावभिषवावघातविलापनैः सोमादीनां विकारः "व्रीहीन्प्रोक्षति" "पत्न्यवेक्षते" इत्यादौ प्रोक्षणावेक्षणादिभिः व्रीह्यादिद्रव्याणां संस्कारः। एतच्चतुष्टयम् चाङ्गमेव। तथा क्रतुकारकाण्याश्रित्य विहितमर्थकर्म। तच्च

है "अग्निदेवताक पुरोडाश अष्टकपाल होता है"।

कर्म स्वरूप के सहित फलजनक साधन यज्ञादि के फल तथा कर्ता से फल का सम्बन्ध प्रतिपादक अधिकार विधि है (दर्श)— "स्वर्गेच्छु दर्श पौर्णमास याग करे" इत्यादि।

प्रधान याग के अङ्गों का प्रधान से सम्बन्ध प्रतिपादकविधि विनियोगविधि है (व्रीहि०) "व्रीहियों से हवन करे" (समिधो०) "समिधा से हवन करे" इत्यादि। अङ्ग-कर्म तथा प्रधान कर्म के प्रयोग में (अङ्गाङ्गि भाव में) पूर्व कथित तीनों विधियों का सम्मिलित रूप प्रयोगविधि है। कुछ आचार्य प्रयोग-विधि को श्रौतविधि और कुछ आचार्य कल्पविधि मानते हैं।

कर्म के स्वरूप भी गुणकर्म और अर्थकर्म भेद से दो प्रकार हैं। जिनमें यज्ञ के कर्त्ता के आश्रित विहितकर्म और गुणकर्म है। वह गुण कर्म भी उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति और संस्कृति भेद से चार प्रकार है। (वसन्ते०) "बसन्त ॠतु में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे" (यूपम्) "यज्ञपशु बाँधने का खूंटा छीले" इत्यादि वाक्यों से ग्रहण तक्षण (छीलना, गढ़ना) आदि कर्म द्वारा संस्कार विशेष सम्पन्न अग्नि यूप आदि की उत्पत्ति है। (स्वाध्या०) "अपनी शाखा (वेद) अध्ययन करना चाहिए" (गां०) "गाय के दूध को दुहो" आदि अध्ययन, दोहन आदि के द्वारा विद्यमान रहते हुए वेद एवं दूध आदि की प्राप्ति है। (सोम०) "सोमरस को निकालो" (आज्यम्०) "घृत को पिघलाओ" इत्यादि विधि वाक्यों में सोम निचोड़ना तथा घृत पिघलाना आदि क्रिया से सोम आदि का विकार है। (व्रीही) "धानों को धोओ" (पत्नी०) "घृत आदि को यजमान की पत्नी देखे" इत्यादि विधि वाक्यों में धान प्रक्षालन, स्त्री के देखने आदि के द्वारा धान आदि पदार्थों का संस्कार है। ये पूर्व कथित चारों अङ्ग ही हैं। इसी प्रकार यज्ञ के कर्ता को आश्रित करके विधान किया गया अर्थ कर्म है। वह दो प्रकार का होता है। अङ्ग और प्रधान भेद से। किसी अन्य के लिए होने से अङ्ग, तथा

द्विविधम्। अङ्गं प्रधानं च। अन्यार्थमङ्गम्। अनन्यार्थं प्रधानम्। अङ्गमपि द्विविधं सन्निपत्योपकारकमारादुपकारकं च। तत्र प्रधानस्वरूपनिर्वाहकं प्रथमं यथावहननप्रोक्षणादिफलोपकारि। द्वितीयं यथा प्रयाजादि। एवं सम्पूर्णाङ्गसंयुक्तो विधिः प्रकृतिः। विकलाङ्गसंयुक्तो विधिर्विकृतिः। तदुभयविलक्षणो विधिर्दर्वीहोम। एवमन्यदप्यूह्यम्। तदेवं निरूपितो विधिभागः। प्राशस्त्यनिन्दान्यतरलक्षणया विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः। सच त्रिविधः। गुणावादोऽनुवादो भूतार्थवाचकश्चेति। तत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधको गुणवाद "आदित्यो यूपः" इत्यादिः। प्रमाणान्तरप्राप्तार्थवोधकोऽनुवाद "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादिः। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधको भूतार्थवादः "इन्द्रो वृत्ताय वज्रमुदयच्छत्" इत्यादिः तदुक्तम्—"विरोधे गुणवादः स्यात् अनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः" इति। तत्र त्रिविधानामप्यर्थवादानां विधिस्तुतिपरत्वे समानेऽपि भूतार्थवादानां स्वतःप्रामाण्यम्। देवताधिकरणन्यायात्। अवाधिताज्ञातार्थज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम्। तच्च बाधितविषय-त्वाज्ज्ञातज्ञापकत्वाच्च न गुणवादानुवादयोः। भूतार्थवादस्य तु स्वार्थे तात्पर्यरहितस्याप्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यम् न विहन्यते

किसी के लिए न होने पर प्रधान होता है। साथ में मित्रयुक्त होकर (अङ्गी का) सहायक होने से तथा दूर से उपकारक होने से अङ्ग भी दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रधान (अङ्गी) के स्वरूप साधक (धानों का) धोना फूटना आदि यज्ञ रूपफल के उपकारक सन्निपत्य-उपकारक है। दूसरा जैसे प्रयाजादि (याग) दूर से उपकारी है। पूर्वकथित सभी अङ्गों से मिली विधि प्रकृति है। अन्य अङ्ग रहित विधि विकृति है।

प्रकृति विकृति न होकर स्वतन्त्र दर्वी होम है। ऐसी और विधियां भी (यहां) कल्पना से समझनी चाहिए। यहां तक इस प्रकार विधि भाग वेद का निरूपण किया। प्रशंसा तथा निन्दा वाक्य विधि के अङ्ग होते हैं और वे अर्थवाद हैं। वह अर्थवाद भी गुणावाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद रूप से तीन प्रकार हैं। जिसमें प्रमाणों (प्रत्यक्षादि) से विरोधी अर्थ का बोधक वाक्य गुणवाद है। जैसे "यूप सूर्य है" इत्यादि।

अन्य प्रमाणों से सिद्ध अर्थ का बोधक अनुवाद है। (अग्नि०) "अग्नि शीत की औषधि है" आदि। जो अन्य प्रमाण विरुद्ध न हो एवं अन्य प्रमाण से प्राप्त भी न हो वह अर्थबोधक वाक्य भूतार्थवाद है। (इन्द्रो०) जैसे "इन्द्र ने वृत्तासुर के लिए वज्र उठाया" जैसे कहा है— "प्रमाणान्तर विरोध होने पर गुणवाद, अन्य प्रमाणसिद्ध अर्थ में अनुवाद तथा दोनों (विरोध तथा अनुवाद) से रहित भूतार्थवाद के रूप में अर्थवाद त्रिविध माना गया है।" तीनों प्रकार के अर्थवाद विधि की स्तुति करते हैं पर भूतार्थवाद वाले वाक्यों में स्वतः प्रामाण्य है। जैसे देवाताधिकरण में है।

क्योंकि प्रमाणान्तर से अबाधित अर्थ के ज्ञापक होने पर ही (प्रमाणों में) प्रामाण्य माना गया है। अनुवाद और गुणवाद प्रमाणान्तर सिद्ध अर्थ के ज्ञापक एवं प्रमाणान्तर विरुद्धार्थ ज्ञापक हैं अतः इनमें स्वतः प्रामाण्य नहीं है।

भूतार्थवाद का तो अपने अर्थ में तात्पर्य न होने पर स्वभाव से

तदेवं निरूपितोऽर्थवादभागः। विध्यर्थवादोभयविलक्षणं तु वेदान्तवाक्यम्। तच्चाज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यनुष्ठानाप्रतिपादकत्वान्न विधिः। स्वतः पुरुषार्थपरमानन्दज्ञानात्मकब्रह्मणि स्वार्थे- उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया स्वतःप्रमाणभूतं सर्वानपि विधीनन्तःकरणशुद्धिद्वारा स्वशेषतामापादयदन्यशेषत्वाभावाच्च नार्थवादः। तस्मादुभयविलक्षणमेव वेदान्तवाक्यम्। तच्च क्वचिदज्ञातज्ञापकत्वमात्रेण विधिरिति व्यपदिश्यते। विधिपदरहितमपि प्रमाणवाक्यत्वेन च क्वचिद्भूतार्थवाद इति व्यवह्यते इति न दोषः। तदेवं त्रिविधं निरूपितम् ब्राह्मणम्। एवं च कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डात्मको वेदो धर्मार्थकाममोक्षहेतुः। स च प्रयोगत्रयेण यज्ञनिर्वाहार्थमृग्यजुःसामभेदेन भिन्नः। तत्र हौत्रप्रयोग ऋग्वेदेन, आध्वर्यवप्रयोगो यजुर्वेदेन, औद्गात्रप्रयोगः सामवेदेन। ब्राह्मयाजमानप्रयोगौ त्वत्रैवान्तर्भूतौ। अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तोऽपि शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्तविलक्षण एव। एवं च प्रवचनभेदात्प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्याः शाखाः। एवं च कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपिसर्वासां वेदशाखानामेकत्वमेव ब्रह्मकाण्डमिति चतुर्णां वेदानां प्रयोजनभेदेन भेद उक्तः। अथाङ्गा- नामुच्यते। तत्र शिक्षाया उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घप्लुतादिविशिष्टस्वर

प्राप्त प्रामाण्य किसी से बाधित नहीं है। इस प्रकार अर्थवाद भाग का निरूपण हो गया। वेदान्त वाक्य तो विधि तथा अर्थवाद दोनों से विलक्षण है। अज्ञात अर्थ के बोधक होने पर अनुष्ठान के प्रतिपादक न होने से वह विधि नहीं है। स्वयं पुरुषार्थभूत परमानन्द स्वरूप ब्रह्मरूप अपने अर्थ में उपक्रम उपसंहार आदि छः प्रकार तात्पर्य निर्णायक लिङ्गयुक्त होने से स्वतः प्रमाण है। तथा सभी विधियों को अन्तःकरण शुद्धि में उपयुक्त कर अपना अङ्ग बनाता हुआ अन्य किसी (विधि आदि) का शेष न होने से अर्थवाद भी नहीं है। अतः विधि तथा अर्थवाद से वेदान्त वाक्य भिन्न ही है। वेदान्त वाक्य कहीं–कहीं अज्ञात अर्थ के बोधक होने मात्र से विधि कहे जाते हैं। विधि बोधक पद न होते हुए भी स्वतः प्रमाण वाक्य होने से कहीं कहीं भूतार्थवाद भी व्यवहार होता है। अतः (स्वतः प्रामाण्य अन्य शेष नहीं है) कोई दोष नहीं है। इस प्रकार ब्राह्मणों के तीन भेद का निरूपण किया। ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड में विभक्त वेद समुदाय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का हेतु है। वह वेद तीन प्रकार के प्रयोगों से यज्ञ निर्वाहक होने के कारण ऋग्, यजुः, साम भेद से विभक्त है। ऋग्वेद से होता सम्बन्धी, यजुर्वेद से अध्वर्यु सम्बन्धी और सामवेद से उद्गाता सम्बन्धी प्रयोग होते हैं। ब्रह्मा तथा यजमान सम्बन्धी कृत्य इन तीनों वेदों के भीतर आ गये हैं। अथर्ववेद यज्ञ के कार्य में उपयोगी नहीं है। फिर भी शान्ति पौष्टिक (आयुष्य वृद्धि) मारण आदि कर्म का प्रतिपादक होने से तीनों से अतिशय विलक्षण है। (ऋषि परम्परा से) अनेक व्याख्याओं के भेद से प्रत्येक वेदों की अनेक शाखाएं हैं। इस प्रकार कर्म के निमित्त व्यवहारों में भेद होने पर भी सभी वेद की शाखाओं का एक ही रूप ब्रह्मकाण्ड है। अभी तक चारों वेदों के प्रयोजन भेद से भेद बता दिये गये हैं।

अब अङ्गों के भेद बताये जा रहे हैं। शिक्षा का प्रयोजन है उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि विशिष्ट स्वर एवं

व्यञ्जनात्मक-वर्णोच्चारणविशेषज्ञानं प्रयोजनम्। तद्भावे मन्त्राणामनर्थक फलत्वात्। तथाचोक्तम्—"[1]मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" इति। तत्र सर्ववेदसाधारणी शिक्षा "अथ[2] शिक्षां प्रवक्ष्यामि" इत्यादिनवखण्डात्मिका पाणिनिना प्रकाशिता। प्रतिवेदशाखं च भिन्नरूपाः प्रातिशाख्यसंज्ञिता अन्यैरेव मुनिभिः प्रदर्शिताः। एवं वैदिकपदसाधुत्वज्ञानेनोहादिकं व्याकरणस्य प्रयोजनम्। तच्च "वृद्धिरादैच्" इत्याद्यध्यायाष्टकात्मकं महेश्वरप्रसादेन भगवता पाणिनिनैव सूत्ररूपं प्रकाशितम्। तत्र कात्यायनेन मुनिना पाणिनीयसूत्रक्रमेण वार्तिकं विरचितम्। तद्वद्वार्तिकोपरि च भगवता पतञ्जलिना महाभाष्यमारचितम्। तदेतत्रिमुनिव्याकरणं वेदाङ्गमाहेश्वरमित्याख्यायते। कौमारादिव्याकरणानि तु न वेदाङ्गानि किन्तु लौकिकप्रयोगमात्र-ज्ञानार्थानीत्यवगन्तव्यम्। एवं शिक्षाव्याकरणाभ्यां वर्णोच्चारणे पदसाधुत्वे च ज्ञाते वैदिकमन्त्रपदानामर्थज्ञानाकाङ्क्षायां तदर्थं भगवता यास्केन "[3]समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः" इत्यादित्रयोदशाध्यायात्मकं निरुक्तमारचितम्। तत्र च नामाख्यातनि-पातोसर्गभेदेन चतुर्विधं पदजातं निरूप्य वैदिकमन्त्रपदानामर्थः

---

१. पाणिनीय शिक्षा ५२

२. पाणिनीय सूत्र १।१।१।

३. निरुक्ते १ अ० १ खण्डा

व्यञ्जन युक्त वर्णों के उच्चार का ज्ञान। उच्चारणज्ञान उचित न होने से मन्त्र का अनर्थकारी फल होता है। जैसा कि कहा है मन्त्र स्वर, वर्ण में किसी से रहित हो या अनुचित प्रयोग में लिया गया हो ऐसी दशा में अपने अर्थ को नहीं कहता है। तथा वही शब्द (समुदाय) वज्र बन कर यजमान को ही मारता है। जैसे "इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व स्वाहा" इस मन्त्र ने स्वर (अपराध) उलटा करने से यजमान को ही मारा। सभी वेदों में शिक्षा की विशेष आवश्यकता है। "अब शिक्षा का व्याख्यान करूँगा" ऐसा उपक्रम करके पाणिनि ने नव खण्डों में शिक्षा प्रकाशित की है। वेद की प्रत्येक शाखाओं की अनेक विधि प्रातिशाख्य नामक (शिक्षा) अन्यान्य मुनियों ने दिखाया है। एवं वैदिक पदों के साधुत्व ज्ञान के लिए रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह व्याकरण के प्रयोजन हैं।

वह व्याकरण "वृद्धिरादैच्" से प्रारम्भ होकर आठ अध्याय में महेश्वर की कृपा से भगवान् पाणिनि ने सूत्र रूप में प्रकाशित किया है। कात्यायन मुनि ने उन्हीं पाणिनि सूत्रों के क्रम से उन पर वार्तिक रचना की है। उन्हीं सूत्रों पर वार्तिक के अनन्तर भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखा है।

तीन मुनियों द्वारा रचित यह माहेश्वर व्याकरण वेद का अङ्ग है। अन्य कौमार आदि व्याकरण तो लौकिक शब्द प्रयोग का ज्ञान कराते हैं पर वे वेदाङ्ग नहीं हैं यह जानना चाहिए। इन शिक्षा तथा व्याकरण के द्वारा वर्णोच्चारण तथा शब्द के ज्ञान हो जाने पर वैदिक मन्त्रों के शब्दों के अर्थ ज्ञान की इच्छा होने पर उसकी पूर्ति के लिए समाम्नाय (शब्द समुदाय) ऋषियों से ग्रथित है व्याख्यान करना है, उसका ऐसा उपक्रम करके १३ अध्यायात्मक निरुक्त की रचना की है।

उस निरुक्त में नाम (संज्ञा) प्रत्यय, निपात और उपसर्ग भेद से चार प्रकार शब्द समुदाय का निरूपण करके वैदिक मन्त्रों के शब्दों का

प्रदर्शितः। मन्त्राणां चानुष्ठेयार्थप्रकाशनद्वारेणैव करणत्वात् पदार्थ-ज्ञानाधीनत्वाच्च वाक्यार्थज्ञानस्य मन्त्रस्थपदार्थज्ञानाय निरुक्तम् अवश्यमपेक्षितम्। अन्यथानुष्ठानासम्भवात् "[१]सृण्येव जर्भरीतुर्फरीतून्" इत्यादीनामतिदुरूहाणां प्रकारान्तरेणार्थज्ञानस्या-सम्भावनीयत्वाच्च एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मक-पदार्थपर्यायशव्दात्मकनिरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः। अन्येऽप्य-मरहेमचन्द्रादिप्रणीताः कोषाः सर्वे निघण्टुरूपत्वेन निरुक्तान्तर्गता द्रष्टव्याः। एवमृङ्मन्त्राणां पादवद्धच्छन्दोविशेष-विशिष्टत्वात्तदज्ञाने च निन्दा श्रवणाच्छन्दोविशेष निमित्तानुष्ठान-विशेषविधानाच्च छन्दोज्ञानाकांक्षायां तत्प्रकाशनाय "[२]धीश्रीस्त्रीम्" इत्याद्यष्टाध्या-यात्मिका छन्दोविचितिर्भगवता पिङ्गलनागेन विरचिता। तत्र "[३]अथालौकिकम्" इत्यन्तेनाध्यायत्रयेण गायत्र्युष्णि-गनुष्टुब्बृहती-पङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीति सप्त छन्दांसि सर्वाणि सावान्तरभेदानि प्रसङ्गान्निरूपितानि "अथ लौकिकमित्या-रभ्याध्यायपञ्चकेन पुराणेतिहासादावुपयोगीनि लौकिकानि छन्दांसि प्रसङ्गान्निरूपितानि व्याकरणे लौकिकपदनिरूपणवत्। एवं वैदिककर्माङ्ग-दर्शादिकालज्ञानाय ज्यौतिषं भगवता लगधेन गर्गादिभिश्च

---

१. ऋग० १०।१०६।६।

२. प्रथमसूत्रम्

३. ४ अ १, ८ सूत्रम्

अर्थ दिखाया है। मन्त्रों के अनुष्ठानार्थ अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन करते हुए (निरुक्त) हेतु है। वाक्य के अर्थ ज्ञान के लिए पदार्थ ज्ञान कारण होता है। अतः मन्त्रस्थित शब्दार्थ ज्ञान के लिए निरुक्त आवश्यक (अपेक्षित।) है।

अर्थ ज्ञान न होने पर अनुष्ठान असम्भव है। सृणि (भाला) दो कार्य करता है रक्षण और मारण, इत्यादि अति कठिन मन्त्रपदों के अर्थज्ञान अन्य रीति से असम्भव है। पदार्थ ज्ञान के समान ही निघण्टु आदि भी वेद प्रतिपादित द्रव्य (वस्तु) देवतापरक शब्दों के पर्याय रूप हैं और वे निघण्टु के अन्तर्गत ही हैं। निरुक्तान्तर्गत शब्द कोष में भी निघण्टु नामक एक ग्रन्थ पाँच अध्याय में भगवान् यास्क ने ही बनाया है। अमर हेमचन्द्र आदि के द्वारा निर्मित और अन्यान्य कोष हैं, वे सभी निघण्टु रूप से निघण्टु के अन्तर्गत ही हैं।

इसी प्रकार ऋग् मन्त्र पाद-बद्धच्छन्दः विशेषों में ग्रथित होने से तथा छन्दज्ञान न होने पर निन्दा सुनी गई है, विशेष छन्द मिमित्त का अनुष्ठान विहित होने पर छन्द ज्ञान की आवश्यकता होने पर उन छन्दों के प्रकाशन करने के लिए 'धीश्रीस्त्रीम्' (मगण आदि सूचक)। सूत्र आठ अध्यायात्मक छन्दःग्रन्थ भगवान् पिङ्गल नाग ने लिखा है। उसमें "अथालौकिकम्" इस सूत्र से आरम्भ कर तीन अध्यायों से गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति त्रिष्टुप्, और जगती इस रूप से सात छन्दों को तथा उनके अवान्तर सभी भेदों को प्रसङ्गतः निरूपण कर दिया है। "अथ लौकिक छन्दों का परिचय देते हैं" इस सूत्र से प्रारम्भ कर पांच अध्यायों में पुराण तथा इतिहास आदि में उपयुक्त लौकिक छन्दों को भी प्रसङ्गतः निरूपण किया है, जैसे व्याकरण में लौकिक शब्दों का निरूपण है।

वैदिक कर्मों के लिए, उनके अङ्गरूप अमावस्या आदि काल ज्ञान के लिए भगवान् लगध तथा गर्गादि ऋषियों ने ज्योतिष शास्त्र का

प्रणीतम् वहुविधमेव। एवं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण वैदिकानुष्ठानक्रमविशेषज्ञानाय कल्पसूत्राणि। तानि च प्रयोगत्रयभेदात् त्रिविधानि। तत्र हौत्रप्रयोगप्रतिपादकान्याश्वलायन-सांख्यायनादिप्रणीतानि। अध्वर्यवप्रयोगप्रतिपादकानि बौधायनापस्तम्बकात्यायनादिप्रणीतानि। औद्गात्रप्रयोगप्रतिपादकानम्। तु लाट्यायनद्राह्यायणादिभिः प्रणीतानि। एवं निरूपितः षण्णाम ³अथ प्रयोजनभेदः।। चतुर्णामुपाङ्गानामधुनोच्यते। पादे पितम्। सर्गप्रतिसर्गवंशमन्वन्तरवंशानुचरितप्रतिपादकानि भगव ान-वादरायणेन कृतानि पुराणानि। तानि च ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं शैवं भागवतं नारदीयं मार्कण्डेयम्, आग्नेयं भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गं वाराहं स्कान्दं वामनकं कौर्मं मात्स्यं गारुडं ब्रह्माण्डं चेत्यष्टादश। एवमुपपुराणान्यप्यनेकप्रकाराणि द्रष्टव्यानि। न्याये आन्वीक्षिकी पञ्चाध्यायी गौतमेन प्रणीता। प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्क-निर्णय-वाद- जल्पवितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जातिनिग्रहस्थानाख्यानां षोडशपदार्थानामुद्देशलक्षणपरीक्षा-भिस्तत्त्वज्ञानं तस्या प्रयोजनम्। एवं दशाध्यायं वैशेषिकशास्त्रं कणादेन प्रणीतम्। द्रव्य गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां भावपदार्थानामभावसप्तमानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्युत्पादनं तस्य प्रयोजनम्। एतदपि न्यायपदे-

किया है। तथा वह ज्योतिष ग्रन्थ एवं कर्तृ भेद से अनेक विध हैं। अन्य शाखास्थित गुणों के उपसंहार से वैदिक (कर्म) अनुष्ठान क्रम विशेष ज्ञान में (आवश्यक) वेदाङ्ग रूप कल्पसूत्र हैं और वे कल्प सूत्र तीन प्रकार प्रयोग प्रतिपादन से तीन विध हैं। होता सम्बन्धी प्रयोग प्रतिपादक सूत्र आश्वलायन, सांख्यायान आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत है, अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म प्रतिपादक कल्पसूत्र बौधायन, आपस्तम्व तथा कात्यायन आदि द्वारा रचे गये हैं और उद्‌गाता सम्बन्धी प्रयोग प्रतिपादक कल्पसूत्र लाट्यायन तथा द्राह्यायण आदि ऋषियों से प्रणीत है। अब तक छः वेदाङ्गों के अलगअलग प्रयोजन कहे गये।

अब वेदों के चार उप अङ्गों के प्रयोजन कहे जाते हैं। उन उपाङ्गों में सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशचरित प्रतिपादक पुराणों को भगवान् व्यास ने बनाया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

ब्रह्मपुराण, पद्म पु०, विष्णु पु०, शिव पु०, भागवत पु०, नारद पु०, मार्कण्डेय पु०, अग्नि पु०, भविष्य पु०, ब्रह्मवैवर्त पु०, लिङ्ग पु०, वराह पु०, स्कन्द पु०, वामन पु०, कूर्म पु०, मत्स्य पु०, गरुड़ पुराण और ब्रह्माण्डपुराण ये अठारह हैं। पुराणों के सदृश उप पुराणों को भी समझना चाहिए, वे भी अनेक विध हैं।

न्याय विभाग में पांच अध्याय में गौतम ऋषि ने तर्कशास्त्र बनाया है। प्रमाण, प्रेमय, शंसय, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान आत्मक सोलह पदार्थों के उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा द्वारा तत्त्वज्ञान कराना आन्विक्षिकी शिल्प (तर्कशास्त्र) का प्रयोंजन है। न्याय के समान दश अध्यायात्मक वैशेषिक शास्त्र कणाद ने बनाया है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छः पदार्थ तथा अभावरूप सातवें पदार्थ का समान धर्म असमान धर्म द्वारा भेद विवेचन वैशेषिक शास्त्र का प्रयोजन है।

यह वैशेषिक दर्शन भी न्याय शब्द से कहा गया है। न्याय के

नोक्तम्। एवं मीमांसापि द्विविधा। कर्ममीमांसा शारीरकमीमांसा च। तत्र द्वादशाध्यायी कर्ममीमांसा "[१]अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यादिः", "[२]अन्वाहार्ये च दर्शनात्" इत्यन्ता भगवता जैमिनिना प्रणीता। अत्र १ धर्मप्रमाणं, २ धर्मभेदाभेदौ, ३ शेषशेषिभावः, ४ क्रत्वर्थपुरुषार्थभेदेन प्रयुक्तिविशेषः, ५ श्रुत्यर्थपाठादिक्रमभेदः, ६ अधिकारविशेषः, ७ सामान्यातिदेशः, ८ विशेषातिदेशः, ९ ऊहः, १० वाधः, ११ तन्त्रम्, १२ प्रसङ्गश्च इति क्रमेण द्वादशानामध्यायानामर्थाः। तथा च संकर्षणकाण्डमप्यध्यायचतुष्टयात्मकं जैमिनिना प्रणीतम्।। तच्च देवताकाण्डसंज्ञया प्रसिद्धमप्युपासनाख्यकर्म-प्रतिपादनत्वात्कर्ममीमांशान्तर्गतमेव। तथा चतुरध्यायी शारीरकमीमांसा "[३]अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादिः "[४]अनावृत्तिः शव्दात्" "इत्यन्ता जीवब्रह्मैकत्वसाक्षात्कार-हेतुश्रवणाख्यविचारप्रतिपादकान्न्यायानुपदर्शयन्ती भगवद्वादरायणेन कृता। तत्र सर्वेषामपि वेदान्तवाक्यानां साक्षात्

---

१. पू० मी० १, पा० १, सू० १,

२. मी० अ० १२, पा० ४, सू० ४७

३. ब्रह्मसूत्रे प्रथम सूत्रम्।

४. अ० ४ पा० ४, सूत्र २२।

समान मीमांसा भी दो प्रकार की है। कर्ममीमांसा तथा शारीरिक मीमांसा। उनमें बारह अध्यायात्मक कर्म मीमांसा "अब धर्म का विचार किया जाता है" यहां से प्रारम्भ कर "अन्वाहार्य कर्म में ब्राह्मण का कर्म देखा गया है" इस सूत्र तक भगवान् जैमिनि ने बनाया है।

उसमें प्रत्येक अध्याय के विषय इस प्रकार हैं—

1—विधि और अर्थवाद का प्रामाण्य।

2—यज्ञदान आदि कर्मों का वैविध्य।

3—याग साधक प्रयाजादिका शेष शेषिभाव।

4—क्रतु एवं पुरुषार्थ साधक (युक्ति)।

5—श्रौत, आर्थ, पाठ आदि क्रम भेद।

6—कर्म के अधिकारी विषयक विचार।

7—एक कर्म का उसी प्रकार अन्यत्र निर्देश।

8—वैशिष्ट्य देख कर अति देश का विधान।

9—तर्क द्वारा प्रकृति विकृति निर्णय।

10—प्राप्त का निराकरण।

11—अनेकों का संग्रह।

12—प्रसङ्ग।

इस क्रम से बारह अध्यायों का अर्थ है।

कर्म मीमांसा के समान संकर्षण-काण्ड भी चार अध्याय में जैमिनि ने वनाया है। वह संकर्षण काण्ड देवता काण्ड नाम से प्रसिद्ध होता हुआ भी उपासना कर्म प्रतिपादक होने से कर्म मीमांसा के भीतर ही है। कर्म मीमांसा के समान शारीरिक मीमांसा "चार साधन सम्पन्न होकर ब्रह्म विचार करना चाहिए" यहां से प्रारम्भ कर "मुक्त पुरुष की संसार में पुनः पुनरावृत्ति नहीं है वेद शब्द ऐसा ही कहते हैं" इस सूत्र तक जीव और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार कारण आत्म-श्रवण रूप विचार प्रतिपादक न्याय को दिखाती है, इसे भगवान् व्यास ने लिखा है।

परम्परया वा प्रत्यगभिन्नाद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यमिति समन्वयः प्रथमाध्यायेन प्रदर्शितः। तत्र प्रथमपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तानि वाक्यानि विचारितानि। द्वितीयपादे त्वस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तान्युपास्यब्रह्मविषयाणि। तृतीयपादेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि प्रायशो ज्ञेयब्राह्मविषयाणि। एवं पादत्रयेण वाक्यविचारः समापितः। चतुर्थपादे तु प्रधानविषयत्वेन सन्दिह्यमानान्यव्यक्ताजादिपदानि चिन्तितानि। एवं वेदान्तानामद्वये ब्रह्मणि सिद्धे समन्वये तत्र सम्भावितस्मृतितर्कादिविरोधमाशङ्क्य तत्परिहारः क्रियत इत्यविरोधो द्वितीयाध्यायेन दर्शितः। तत्राद्यपादे सांख्ययोगकाणादादि स्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्तैस्तर्कैश्च विरोधो वेदान्तसमन्वयस्य परिहृतः। द्वितीये पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वं प्रतिपादितम्, स्वपक्षस्थापनपरपक्षनिराकरणरूपपक्षद्वयात्मकत्वाद्विचारस्य। तृतीये पादे महाभूतसृष्ट्यादिश्रुतीनां परस्परविरोधः पूर्व भागेन परिहृतः। उत्तरभागेन तु जीवविषयाणाम् चतुर्थपादे इन्द्रियादिविषयश्रु तीनां विरोधपरिहारः। तृतीयाध्याये साधननिरूपणम्। तत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगमननिरूपणेन वैराग्यं निरूपतिम्। द्वितीयपादे पूर्वभागेन त्वं पदार्थः

ब्रह्म मीमांसा में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परया (अध्यारोपण तथा अपवाद) से आत्माभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य है। इस प्रकार का समन्वय प्रथम अध्याय द्वारा दिखाया गया है।

प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में जिन वाक्यों में स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग है उनका विचार किया गया है। तथा दूसरे पाद में अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग युक्त उपास्य ब्रह्म परक (श्रुतियों का विचार है)।

तीसरे पाद में अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग वाक्य प्रायः ज्ञेय ब्रह्म विषय के विचार में है। इस प्रकार तीन पादों से वाक्य विचार समाप्त किया है। चौथे पाद में तो श्रुति का मुख्य विषय क्या है इस रूप से सन्देहास्पद तथा अव्यक्त अज आदि पदों का चिन्तन (विचार) है। इस रीति से वेदान्त वाक्यों का अद्वयब्रह्म में समन्वय सिद्ध हो जाने पर उसी में तर्कित विविध स्मृति तर्कादिकों द्वारा विरोध की आशङ्का करके उसका निराकरण किया। इस रूप में अन्य स्मृतियों से अविरोध दूसरे अध्याय से दिखाया। दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य-योग कणाद, आदि स्मृतियों से तथा सांख्य आदि द्वारा दिये गये तर्कों से वेदान्त का (अद्वय ब्रह्म विषयक) समन्वय का परिहार किया। दूसरे पाद में सांख्य आदि सिद्धान्तों को दूषित प्रतिपादन किया, क्योंकि अपना पक्ष स्थिर करना एवं अन्य पक्ष का निराकरण करना इस प्रकार विचार दो पक्ष से युक्त ही होता है।

तीसरे पाद में महाभूतों से सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों का परस्पर विरोध का परिहार पूर्व भाग से किया गया और उत्तर भाग से जीव के सम्बन्ध में श्रुतियों का परस्पर विरोध का परिहार किया है।

चौथे पाद में इन्द्रिय आदि विषयक श्रुतियों का परस्पर विरोध का खण्डन किया गया है। तीसरे अध्याय में साधन का निरूपण है। उस के प्रथम पाद में जीव का परलोक गमन बताते हुए वैराग्य का निरूपण है। दूसरे पाद के पूर्व भाग से "त्वम्" पद के अर्थ का शोधन

शोधितः। उत्तरभागेन तत्पदार्थः। तृतीयपादे निर्गुणे ब्रह्मणि नानाशाखापठितः पुनरुक्तपदोपसंहारः कृतः। प्रसङ्गाच्च सगुणविद्यासु शाखान्तरीय-गुणोपसंहारानुपसंहारौ निरूपितौ। चतुर्थपादे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गसाधनान्याश्रमधर्मयज्ञदानादीनि, अन्तरङ्गसाधनानि-शमदमनिदिध्यासनादीनि च निरूपितानि। चतुर्थेऽध्याये सगुणनिर्गुणविद्ययोः फलविशेषनिर्णयः कृतः। तत्र प्रथमपादे श्रवणाद्यावृत्या निर्गुणं ब्रह्म, उपासनावृत्या सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवतः पापपुण्यालेपलक्षणा-जीवन्मुक्तिरभिहिता। द्वितीयपादे म्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारश्चिन्तितः। तृतीयपादे सगुणब्रह्मविदोमृतस्योत्तरमार्गोऽभिहितः। चतुर्थपादे पूर्वभागेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तिरुक्ता। उत्तरभागेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोके स्थितिरुक्तेति। इदमेव सर्वशास्त्राणां मूर्धन्यं, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतमितीदमेव मुमुक्षुभिरादरणीयं श्रीशङ्करभगवत्पादोदितप्रकारेणेति रहस्यम्।

एवं धर्मशास्त्राणि मनुयाज्ञवल्क्यविष्णुयमाङ्गिरोवसिष्ठदक्ष संवर्तशातातपपराशर-गौतम-शङ्खलिखितहारीतापस्तम्बोशनोव्यास कात्यायनबृहस्पतिदेवलनारदपैठीनसिप्रभृतिभिः कृतानि वर्णाश्रमधर्मविशेषाणां विभागेन प्रतिपादकानि। एवं व्यासकृतं

है और उत्तर भाग से "तत्" शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण है। तीसरे पाद में निर्गुण ब्रह्म के विषय में अनेक शाखाओं में पुनः पुनः आए शब्दों का उपसंहार किया है। प्रसङ्गत सगुण उपासनाओं में अन्य अन्य शाखा स्थित गुणों का कहीं उपसंहार है, कहीं उपसंहार नहीं है ऐसा निरूपण है। चौथे पाद में निर्गुण ब्रह्मज्ञान के बाहरी साधन वर्ण–आश्रम धर्म, यज्ञ–दान आदि तथा भीतरी साधन शम, दम और निदिध्यासन आदि का निरूपण है।

चतुर्थ अध्याय में सगुण और निर्गुण उपासना का फल विशेष (प्राप्तव्य) का निर्णय किया गया है। चौथे अध्याय के प्रथम पाद में श्रवण मननादि की पुनः पुनः आवृत्ति से निर्गुण ब्रह्म अथवा बार बार उपासना के द्वारा सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीवित रहते ही पाप पुण्य से छुटकारा प्राप्ति रूप जीवन्मुक्ति बताई गई। दूसरे पाद में प्राणनिर्गमन काल में विभिन्न प्रकार की गति का विचार किया। तीसरे पाद में सगुणब्रह्मज्ञानियों का मरणोत्तर का मार्ग बताया गया। चौथे पाद के पूर्व भाग से निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों का इसी शरीर में विदेह मुक्ति बताई गई और उत्तर भाग से सगुण ब्रह्मज्ञानियों की ब्रह्मलोक में स्थिति कही गई है। यह शारीरिक मीमांसा शास्त्र ही सभी शास्त्रों का शिररूप है, अन्य सभी शास्त्र इसी के पूरक अङ्ग रूप हैं अतः मुमुक्षुओं के द्वारा यही आदरणीय है। उसमें भी भगवान् आद्य श्रीशङ्कराचार्य प्रतिपादित मार्ग ही उपादेय है यह लिखने का रहस्य है।

वेद के उपाङ्गों में धर्मशास्त्र है। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अङ्गिरस, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त, शातातप, पराशर, गौतम, शङ्खलिखित हारित, आपस्तम्ब, उशनस्, व्यास, कात्यायन, बृहस्पति, देवल, नारद और पैठीनसि आदि ऋषियों ने धर्मशास्त्र बनाया है। 'धर्मशास्त्र' 'वर्ण' और आश्रमों के धर्मों का विशेष रूप से अलग अलग स्पष्ट विभाग के प्रतिपादक हैं। इसी प्रकार व्यास रचित महाभारत तथा वाल्मीकि

महाभारतम्, वाल्मीकिकृतं रामायणं च धर्मशास्त्र एवान्तर्भूतं स्पष्टमितिहासत्वेन प्रसिद्धम्। सांख्यादीनां धर्मशास्त्रान्तर्भावेऽपीह स्वशब्देनैव निर्देशात् पृथगेव सङ्गतिर्वाच्या। अथ वेदचतुष्टयस्य क्रमेण चत्वार उपवेदाः। तत्रायुर्वेदस्याष्टौ स्थानानि भवन्ति। सूत्रं शरीरमैन्द्रियं चिकित्सा निदानं विमानं कल्पः सिद्धिश्चेति। व्रह्मप्रजापत्यश्विधन्वन्तरीन्द्रभारद्वाजात्रेयाग्निवेश्यादिभिरूपदिष्टश्चरकेण संक्षिप्तः। तत्रैव सुश्रुतेन पञ्चस्थानात्मकं प्रस्थानान्तरं कृतम् एवं वाग्भटादिभिरपि वहुधेति न शास्त्रभेदः। कामशास्त्रमप्यायुर्वेदान्तर्गतमेव। सुश्रुतेन वाजीकरणाख्यकामशास्त्राभिधानात्। तत्र वात्स्यायनेन पञ्चाध्यात्मकं कामशास्त्रं प्रणीतम्। तस्य च विषयवैराग्यमेव प्रयोजनम्, शास्त्रोद्दीपितमार्गेणापि विषयभोगे दुःखमात्रपर्यवसानात्। चिकित्साशास्त्रस्य च रोगतत्साधनरोनिवृत्तितत्साधनज्ञानं प्रयोजनम्। एवं धनुर्वेदः पादचतुष्टयात्मको विश्वामित्रप्रणीतः। तत्र प्रथमं दीक्षापादः। द्वितीयः सङ्ग्रहपादः। तृतीयः सिद्धिपादः। चतुर्थः प्रयोगपादः। तत्र प्रथमपादे धनुर्लक्षणमधिकारिनिरूपणं च कृतम्। तत्र धनुशब्दश्शचापे रूढोऽपि चतुर्विधायुधवाची वर्तते। तच्च चतुर्विधम्-मुक्तम्, अमुक्तं, मुक्तामुक्तं, यन्त्रमुक्तं च। तत्र मुक्तं

विरचित रामायण भी धर्मशास्त्र के भीतर हैं। वे स्पष्ट रूप में इतिहास नाम से प्रसिद्ध हैं। सांख्य शास्त्र आदि भी धर्मशास्त्र के अन्तर्गत होते हुए भी सांख्य आदि शब्दों से श्रीपुष्पदन्त ने श्लोक में दिखाया है। अतः उनकी संगति अलग से करनी चाहिए।

अब चार वेदों के चार उपवेद हैं (उनका भी परिचय देते हैं) उपवेदान्तर्गत आयुर्वेद के आठ प्रकरण हैं। उनका नाम इस प्रकार है— 1. सूत्र स्थान (सूत्र रूप में सभी विषय) 2. शरीर स्थान (शरीर की स्थिति आदि) 3. इन्द्रिय स्थान (इन्द्रिय आदि का परिचय) 4. चिकित्सा 5. व्याधि-कारण ज्ञान, 6 विमान (विशेष रूप से दोष औषध ज्ञान) 7. कल्प-विविध भेषज निर्माण, 8. सिद्धिस्थान कर्मों की सिद्धि। ब्रह्मा, प्रजापति, अश्वनीकुमार, धन्वन्तरि, इन्द्र, भारद्वाज, आत्रेय तथा अग्निवेश आदि ऋषियों ने प्रचारित किया। चरक मुनि ने सभी को एकत्र संक्षेप में लिखा है। उसी आयुर्वेद में सुश्रुत मुनि ने पांच स्थानों में दूसरा प्रस्थान बनाया है। एवं वाग्भट्ट आदि ने भी वनाया है इस प्रकार से वहुत भेद हैं। यह शाखा भेद है न कि शास्त्र का भेद। कामशास्त्र भी आयुर्वेद के भीतर ही है। सुश्रुताचार्य ने वाजीकरण नाम से कामशास्त्र का प्रणयन किया है। उस कामशास्त्र को वात्स्यायन ने पांच अध्याय में कामशास्त्र बनाया है। उस कामशास्त्र का भी प्रयोजन विषाय वैराग्य ही है, क्योंकि शास्त्रदर्शित मार्ग से विषयों का उपभोग भी अन्त में दुःख रूप में परिवर्तन ही है। चिकित्सा शास्त्र का प्रयोजन है रोग, रोग की उत्पत्ति का साधन, रोग नाश और रोग नाश के साधनों का ज्ञान।

धनुर्वेद नामक उपवेध ४ पाद में विश्वामित्र ऋषि के द्वारा बनाया गया है। जिसका प्रथम दीक्षा पाद, दूसरा संग्रह पाद, तीसरा सिद्धिपाद चौथा प्रयोग पाद है। उसके प्रथम पाद में धनुष का लक्षण और धनुर्विद्या के अधिकारी का विवेचन किया गया है। सर्वत्र धनुष शब्द चाप अर्थ में रूढ़ है तो भी इस प्रकार के हथियारों का वाचक है। वे आयुध मुक्त, अमुक्तमुक्ता और यन्त्र भेद से चार प्रकार के हैं।

चक्रादि, अमुक्तं खड्गादि, मुक्तामुक्तं शल्यावान्तरभेदादि। यन्त्रमुक्तं शरादि। तत्र मुक्तमस्त्रमित्युच्यते। अमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते। तदपि ब्राह्मणवैष्णवपाशुपतप्राजापत्याग्नेयादिभेदादनेकविधम्। एवं साधिदैवतेषु समन्त्रकेषु चतुर्विधायुधेषु येषामधिकारः क्षत्रियकुमाराणां तदनुयायिनां च ते सर्वे चतुर्विधाः पदातिरथगजतुरगारूढा दीक्षाभिषेकशकुनमङ्गलकरणादिकं च सर्वमपि प्रथमपादे निरूपितम्। सर्वेषां शस्त्रविशेषाणामाचार्यस्य च लक्षणपूर्वकं सङ्ग्रहणप्रकारो दर्शितः द्वितीये पादे। गुरुसम्प्रदायसिद्धानां शस्त्रविशेषाणां पुनः पुनराभ्यासोमन्त्रदेवतासिद्धकरणमपि निरूपितं तृतीये पादे। एवं देवतार्चनाभ्यासादिभिः सिद्धानामस्त्रविशेषाणां प्रयोगश्चतुर्थपादे निरूपितः। क्षत्रियाणां स्वधर्माचरणं युद्धं दुष्टदस्युचौरादिभ्यः प्रजापालनं च धनुर्वेदस्य प्रयोजनम्। एवं ब्रह्मप्रजापत्यादिक्रमेश विश्वामित्रप्रणीतं धनुर्वेदशास्त्रम्। एवं गान्धर्ववेदशास्त्रं भरतेन प्रणीतम्। तत्र नृत्यगीतवाद्यभेदेन बहुविधोऽर्थः प्रपञ्चितः। देवताराधननिर्विकल्पसमाध्यादिसिद्धिश्च गान्धर्ववेदस्य प्रयोजनम्। एवमर्थशास्त्रं च बहुविधं नीतिशास्त्रमश्वशास्त्रं गजशास्त्रं शिल्पशास्त्रं सूपकारशास्त्रं चतुषष्ठिकलाशास्त्रं चेति। (ताश्चतुःशष्टिकलाः शैवागमोक्ताः गीतम् १, वाद्यम् २, नृत्यम् ३, नाट्यम् ४, आलेख्यम् ५, विशेषकच्छेद्यम् ६, तण्डुलकुसुमवलिविकाराः ७, पुष्पास्तरणम् ८, दशनवसनाङ्गरागाः ९, मणिभूमिकाकर्म १०, शयनरचनम् ११, उदकवाद्यम् १२, उदक (घातः) वादः १३, अद्भुतदर्शनवेदिता

जिसमें मुक्त चक्र आदि, अमुक्त तलवार आदि, भाला बरछी आदि मुक्तामुक्त हैं। यन्त्रों द्वारा फेंके जाने योग्य बाण आदि यन्त्रमुक्त हैं। इन्हें मुक्त अस्त्र कहा जाता है और अमुक्त अस्त्र कहा जाता है। वे शस्त्रास्त्र ब्राह्मास्त्र, वैष्णवास्त्र, पाशुपतास्त्र, प्राजापत्यास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि भेद से अनेक रूप में हैं। एवं देवता और मन्त्र से युक्त चार प्रकार के आयुधों में जिन क्षत्रिय कुमारों या उनके अनुयायियों का अधिकार है वे सभी पैदल, रथी, अश्वारूढ़ और गजारूढ़ भेद से चार प्रकार के हैं। शस्त्र दीक्षा, शस्त्र का मन्त्रों से अभिषेक, शुभ-अशुभ शकुन, विजयार्थ मङ्गलाचरण आदि सभी प्रथम पाद में निरूपित हुए हैं। सभी शस्त्रों एवं आचार्य के लक्षण दिखाते हुए संग्रह विधि दूसरे पाद में दिखाया है। तीसरे पाद में गुरुपरम्परा से सिद्ध शस्त्रों के बार बार अभ्यास, मन्त्र तथा देवता की सिद्धि प्राप्त करना निरूपित है।

इसी प्रकार देवता पूजन, और अभ्यासादि द्वारा सिद्ध अस्त्रों की प्रयोग विधि चौथे पाद में निरूपित है। क्षत्रियों का स्वधर्म पालन, युद्ध कौशल, दुष्ट और चोर आदि के उत्पात से जनता का रक्षण करना धनुर्वेद का प्रयोजन है। यह धनुर्वेद शास्त्र ब्रह्मा, प्रजापति आदि परम्परा द्वारा प्राप्त एवं विश्वामित्र द्वारा रचित है।

धनुर्वेद के समान गान्धर्व वेद शास्त्र को भरत ऋषि ने वनाया है। उसमें नांच, गाना और बजाना आदि बहुत प्रकार का विषय विस्तार है। देवता की आराधना, निर्विकल्प समाधि आदि सिद्ध होना गान्धर्व वेद का प्रयोजन है। उसी प्रकार अर्थशास्त्र, अश्वशास्त्र, शिल्पशास्त्र, पाकशास्त्र और चौसठ कला शास्त्र इत्यादि है। वे चौसठ कलाएँ शैवागमन में इस प्रकार बतायी गयी हैं—1. गान कौशल, 2. बाजे बजाना 3. नाचना, 4. अभिनय, 5. चित्रकारी, 6. फूलकाढ़ना, 7. चावल एवं पुष्पों से उपहार 8. पुष्प शैया निर्माण, 9. दांत, वस्त्र एवं देह की रचना, 10. मणिमय फर्स रचना, 11. शैया रचना, 12.जलवाद्य निर्माण, 13. जलतरङ्गवाद्य, 14. विलक्षण सिद्धि प्रदर्शन करना 15.

१४, मालाग्रथनकल्पः १५, शेखरापीडयोजनम् १६, नेपथ्ययोगः १७, कर्णपत्रभङ्गाः १८, गन्धयुक्तिः १९, भूषणयोजनम् २०, इन्द्रजालम् २१, कौचुमारयोगः २२, हस्तलाघवम् २३, चित्रशाकापूपभक्तविकारक्रियाः २४, पानकरसरागासवयोजनम् २५, सूचीवापकर्म २६, सूत्रकीडा २७, वीणाडमरूकवाद्यानि २८, प्रहेलिकाप्रतिमालाः २९, दुर्वञ्चकयोगाः ३०, पुस्तकवाचनम् ३१, नाटकाख्यायिकादर्शनम् ३२, काव्यसमस्यापूरणम् ३३, पट्टिकावेत्रवाणविकल्पाः ३४, तर्कुकर्माणि ३५, तक्षणम् ३६, वास्तुविद्या ३७, रूप्यरत्नपरीक्षा ३८, धातुवादः ३९, मणिरागज्ञानम् ४०, आकरज्ञानम् ४१, वृक्षायुर्वेदयोगाः ४२, मेषकुक्कुट-लावाकयुद्धविधिः ४३, शुकसारिकाप्रलापनम् ४४, उत्सादनम् ४५, केशमार्जनकौशलम् ४६, अक्षरमुष्टिकाकथनम् ४७, म्लेच्छितविकल्पाः ४८, देशभाषाज्ञानम् ४९, पुष्पशकटिका-निमित्तज्ञानम् ५०, यन्त्रमातृका ५१, धरणमातृका ५२, असंवा-च्यसम्पाट्यम् मानसीकाव्यक्रियाविकल्पाः ५३, छलितकयोगाः ५४, अभिधानकोशछन्दोज्ञानम् ५५, क्रियाविकल्पाः ५६, ललितविकल्पाः ५७, वस्त्रगोपनानि ५८, द्यूतविशेषा ५९, आकर्षक्रीडा ६०, वालक्रीडनकानि ६१, वैनायिकीविद्याज्ञानम् ६२, वैजयिक-विद्याज्ञानम् ६३, वैतालिकीविद्याज्ञानम् ६४, इति चतुःषष्ठिकलाः) नानामुनिभिः प्रणीतम्। तस्य च सर्वस्य लौकिकालौकि-कतत्तत्प्रयोजनभेदो द्रष्टव्यः। एवमष्टादशविद्यास्त्रयीशब्दे

माला गूंथना, 16. चोटी कान के पुष्प भूषण रचना, 17. विविध पर्दे बनाना, 18. कर्णफूल रचना, 19. वस्त्रादि को सुगन्धित बनाना, 20. विविध आभूषण निर्माण करना, 21. जादूगरी, 22 अपना वेष बदल लेना, 23. हाथ की चतुरता स्फूर्ति, 24. अनेक प्रकार शाक मालपुवा भात बनाने की कुशलता, 25 पेय पदार्थ के रस, रङ्ग गन्ध निर्माण [illegible]ना, 26. सुई के द्वारा सीना आदि, 27. कठपुतली लीला, 28. वीणा [illegible]डमरू आदि बजाना, 29. पहेली रचना, 30. कूट (वाक्य) रचना, [illegible]सद्ग्रन्थ पढ़ने का चातुर्य, 32. नाटिका कथानक रचना, 33. काव्य ज्ञान समस्या पूर्ति करना, 34. पट्टियाँ बेंत (छड़ी) बाण आदि योग 35. गलीचे आदि निर्माण करना, 36. काठ की वस्तुएं बनाना, [illegible]शिल्प कला विद्या, 38. चांदी आदि एवं रत्न की परीक्षा, 39. [illegible]नी आदि बनाना, 40. विविध मणियों के रंग जानना, 41. खान परिचय, 42. वृक्षों की चिकित्सादि विज्ञान, 43. भेड़ मुर्गा बटेर (जीव) युद्धकला, 44. शुक मैना की भाषा बोलना, 45. देह में तैलादि मर्दन, 46. केशों का मार्जन कौशल, 47. मन की बात या मुट्ठी की वस्तु बताना, 48.म्लेक्ष साहित्य समझना, 49. अनेक देश की भाषा समझना, 50. शुभ अशुभ शकुन समझना, 51.मातृका यन्त्र रचना, 52. गोप्य संकेत निर्माण, 53. गुप्त बात समझना मन की कल्पना एवं क्रिया समझना, 54. चातुर्य से कार्य सिद्ध करना, 55 शब्द कोष एवं छन्दः शास्त्र ज्ञान, 56. अनेक क्रीड़ा जानना, 57. बालक्रीड़ा ज्ञान, 58. वस्त्र रक्षण कौशल, 59. द्यूत क्रीड़ा, 60. दूर के लोगों को आकर्षित करना, 61. बालकों के खिलौनों का निर्माण, 62. पक्षि विद्या ज्ञान, 63. विजय कारक विद्या ज्ञान, 64. बेताल आदि सम्बन्धी विद्या, इस प्रकार ये चौसठ कलाएँ विविध मुनियों द्वारा रचित हैं। सभी शास्त्र समुदाय का कुछ इस लोक का तथा परलोक सम्बन्धी विविध फल समझना चाहिए। पूर्व कथित अठारह विद्याएँ त्रयी शब्द से कही गई हैं।

नोक्ताः। तथा सांख्यशास्त्रं कपिलेन भगवता प्रणीतम्। तत्र "[1]त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इत्यादिषडध्यायाः। तत्र प्रथमेऽध्याये विषया निरूपिताः, द्वितीयेऽध्याये प्रधानकार्याणि, तृतीयेऽध्याये विषयवैराग्यम्, चतुर्थेऽध्याये विरक्तानां [2]पिङ्गलाकुररादीनामख्यायिकाः, पञ्चमेऽध्याये परपक्षनिर्जयः, ष॰ सर्वार्थसंक्षेपः। प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं सांख्यशास्त्रस्य प्रयोज॰ तथा योगशास्त्रं भगवता पतञ्जलिना प्रणीतम् "[3] योगानुशासनम्" इत्यादिपादचतुष्टयात्मकम्। तत्र प्रथमे॰ चित्तवृत्तिनिरोधात्मकं समाधिवैराग्यरूपं च तत्साधनम् निरू॰नम् द्वितीयपादे विक्षिप्तचित्तस्यापि समाधिसिद्ध्यर्थं यमनियमास॰ प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि निरूपितानि। तृतीयपादे योगविभूतयः। चतुर्थपादे कैवल्यमिति। तस्य च विजातीयप्रत्यय निरोधद्वारेण निदिध्यासनसिद्धिः प्रयोजनम्। तथा पशुपतिमतं पाशुपतं शास्त्रं भगवता पशुपतिना। पशुपाशविमोक्षणाय "[4]अथातः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्यामः" इत्यादि पञ्चाध्यायं विरचितम्। तत्रध्यायपञ्चकेनापि कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिर्भस्माना त्रिषवणस्नानादिर्निरूपितः। दुःखान्तसंज्ञको मोक्षश्चास्य प्रयोजनम्। एते एव कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ता इत्याख्यायन्ते।

---

१. सांख्ये सूत्र प्रथमम्।

२. कुमारादिनां इति पाठः।

३. योगदर्शने प्रथमसूत्रम्।

४. पाशुपतदर्शने प्रथमसूत्रम्।

भगवान् कपिल के द्वारा सांख्य शास्त्र प्रणीत हुआ है। उसमें आध्यात्म आदि तीनों दुःखों की मूल से निवृत्ति होना ही अति-श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। यह विषय छः अध्याय में है। उसके प्रथम अध्याय में सभी विषय बताये गये, दूसरे अध्याय में प्रकृति के कार्य, तीसरे अध्याय में विषय से वैराग्य, चौथे अध्याय में विराग सम्पन्न पिङ्गला कुरर (या कुमार सनकादि) आदि की कथा, पांचवें अध्याय में दूसरे वादियों को दुष्ट सिद्ध करना, छठवें अध्याय में प्रतिपाद्य सभी विषयों का संक्षेप में सङ्कलन है। सांख्य शास्त्र का प्रयोजन प्रकृति तथा पुरुष का विवेक ज्ञान है। तथा भगवान् पतञ्जलि ने योग शास्त्र लिखा है। "यहां आगे योग का लक्षण साधन तथा फलादि के साथ व्याख्यान किया जाता है" इस रूप में प्रारम्भ कर वह शास्त्र चार पादात्मक है। उसके प्रथम पाद में चित्तवृत्तिनिरोध समाधि तथा वैराग्य रूप एवं उनके साधनों का निरूपण है। दूसरे पाद में विक्षिप्तचित्त पुरुष को भी समाधि सिद्धि हो इसलिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग बताये गये हैं।

तीसरे पाद में योग द्वारा प्रकट होने वाली सिद्धियाँ तथा चौथे पाद में मोक्ष का स्वरूप दिखाए हैं। विरोधी बुद्धि वृत्तियों का निरोध पूर्वक निदिध्यासन की सिद्धि होना योग का फल है। तथा पाशुपत शास्त्र को भगवान् पशुपति ने जीवों के वन्धन की मुक्ति के लिए "अब बन्ध से मुक्ति के लिए पाशुपत योग का लक्षण तथा विधि का व्याख्यान करते हैं" इस सूत्र से उपक्रम पर पांच अध्याय में लिखा है। पांचों अध्यायों से कार्य रूप जीव पशु है, कारण पशुपति ईश्वर है, पशुपति में चित्त स्थिरता योग है तथा त्रिकाल भस्म धारण स्नानादि का निरूपण हुआ है। पाशुपत शास्त्र का दुःखनाश नामक मोक्ष प्रयोजन है। ये पूर्वोक्त विषय ही कार्य-कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त नाम से

एवं शैवं मन्त्रशास्त्रमपि पाशुपतशास्त्रान्तर्गतमेव द्रष्टव्यम्। एवं च वैष्णवनारदादिभिः कृतं पाञ्चरात्रम्। तत्र वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चत्वारः पदार्था निरूपिताः। भगवान् वासुदेवः परमेश्वरः सर्वकारणं तस्मादुत्पद्यते संकर्षणाख्यो जीवस्तस्मान्मनः प्रद्युम्नस्तस्मादिनिरुद्धोऽहङ्कारः। सर्वे चैते भगवतो वासुदेवस्यैवांशभूतास्तदभिन्ना एवेति तस्य वासुदेवस्य मनोवाक्कायवृत्तिभिराराधनं कृत्वा कृतकृत्यो भवतीत्यादि च निरूपितम्। एवं वैष्णवमन्त्रशास्त्रमपि परिमितमपि पाञ्चरात्रमध्येऽन्तभूर्तम्। वामागमादिशास्त्रं तु वेदबाह्यमेव। तदेवं दर्शितः प्रस्थानभेदः। तत्रारम्भवाद एकः, परिणामवादो द्वितीय, विवर्तवादस्तृतीयः। पार्थिवाप्यतैजसवायवीयाश्चतुर्विधाः परमाणवो द्व्यणुकादिक्रमेण ब्रह्माण्डपर्यन्तं जगदारभन्ते। असदेव कार्यकारणव्यापारादुत्पद्यत इति प्रथमः तार्किकाणां मीमांसकानां च। सत्वरजस्तमोगुणात्मकप्रधानमेव महदहङ्कारादिक्रमेणजगदाकारेण परिणमते, पूर्वमपि सूक्ष्मरूपेण सदेव कार्यं कारणव्यापारेणाभिव्यज्यते इति द्वितीयः पक्षः सांख्ययोगपाशुपतानाम्, ब्रह्मणः परिणामो जगदिति वैष्णवानामपि। स्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयं ब्रह्म स्वमायावशान्मिथ्यैव जगदाकारेण कल्प्यते इति तृतीयः पक्षो ब्रह्मवादिनाम्। सर्वेषां च प्रस्थानकर्तॄणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वरे एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम्। न हि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात्तेषाम्,

कहे जाते हैं। साथ ही शैवमन्त्र-शास्त्र भी पाशुपत शास्त्र के भीतर ही समझना चाहिए। विष्णुभक्त नारद आदि द्वारा रचित पांचरात्र आगम है। उसमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चार विषय बताये गये हैं। भगवान् वासुदेव ही परमेश्वर हैं तथा वे ही सभी के कारण हैं, उनसे संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है, उससे प्रद्युम्न नामक मन, मन से अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न होता है। ये सभी संकर्षणादि भगवान् वासुदेव के अंश रूप हैं और उनसे अभिन्न ही हैं। भगवान् वासुदेव की मन वाणी तथा शरीर के व्यापारों से आराधना करके साधक कृतकत्य हो जाता है यह सब निरूपित है। तथा विष्णु के सम्बन्ध में कुछ परिणाम में मन्त्र शास्त्र भी हैं, वे सभी पाञ्चरात्र के अन्तर्गत ही हैं। वाम मार्ग सम्बन्धिशास्त्र तो वेद के बाहर ही है। (अतः उन्हें यहाँ उल्लेख नहीं किया) अब तक पूर्व कथन से सम्प्रदायों का भेद दिखाया गया। जिनमें एक आरम्भवाद है, दूसरा परिणामवाद तथा तीसरा विवर्तवाद है। पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार प्रकार के परमाणु पुञ्ज (परस्पर मिलकर) द्वयणुक आदि क्रम से (द्वयणुक से लेकर) ब्रह्माण्ड तक जगत् की सृष्टि करते हैं। असत् ही कार्य कारणों के व्यापार से उत्पन्न होता है यह प्रथमवाद तार्किक तथा मीमांसकों का है। सत्व-रजः-तमोगुण रूप प्रकृति ही महत् आदि परम्परा से जगत् रूप में परिणत होती है, क्योंकि कारण व्यापार से पहले भी सूक्ष्म रूप से कार्य सत् ही रहता हुआ कारण के व्यापार से व्यक्त (प्रकट) होता है यह दूसरा पक्ष सांख्य, योग तथा पाशुपत मत का है। ब्रह्म का ही परिणाम जगत् है यह वैष्णवों का भी (परिणामवाद) है। स्वयं प्रकाशपरम—आनन्दरूप अद्वितीयब्रह्म (स्वाश्रित) माया से मिथ्या ही जगत् आकार से कल्पित कल्पनास्पद होता है यह तीसरा पक्ष अद्वैतब्रह्मवादियों का है। सभी प्रस्थानों के रचयिता मुनिगणों का विवर्तवाद में समाप्ति से अद्वितीय परमेश्वर जो वेदान्त का प्रतिपाद्य है वह ही लक्ष्य है। वे मुनिजन भ्रान्त नहीं थे क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। तो भी बाहरी विषयों से अतिचञ्चल मानस वाले व्यक्तियों की एकाएक परम

किन्तु वहिर्विषयप्रवणानामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्यनिवारणाय तैः प्रकारभेदाः प्रदर्शिताः। तत्र तेषां तात्पर्यमवुद्ध्वा वेदविरुद्धेऽप्यर्थे तेषां तात्पर्यमुत्प्रेक्षमाणास्तत्तन्मतमेवोपादेयत्वेन गृह्णन्तो जना ऋजुकुटिलनानापथजुषो भवन्तीति न सर्वेषामृजुमार्गे एव प्रवेशः, न [१]विपर्ययेऽपि परमेश्वर-प्राप्तिरन्तःकरणशुद्धिवशेन पश्चाद्-ऋजुमार्गाश्रयणादेवेत्यर्थः। हरिपक्षेऽप्येवम् ।।७।।

एवं सर्वशङ्कोद्धारेण हरिहरस्वरूपं निरूप्य तदेवार्वाचीनपदस्थं स्तौति—

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः,
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहिताम्,
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।।८।।

महोक्ष इति।। हे वरद! तव परिपूर्णपरमेश्वरस्याप्येतत्तन्त्रोपकरणं तन्त्रस्य कुटुम्वधारणस्योपकरणं साधनम्। तदेवाहमहोक्षः महानुक्षा वृद्धवृषभः, खट्वाङ्गं खट्वाया अवयवः शस्त्रविशेषः

---

१. न वा पर्यवसानेऽपि।

पुरुषार्थ रूप (अद्वैत) में गति नहीं हो सकती इस प्रकार उनकी नास्तिकता दूर करने के लिए उन महर्षियों ने विविध रीतियाँ प्रकट की हैं। उन प्रस्थानों में उनका तात्पर्य न समझकर (लोग) वेद विरुद्ध विषय में भी उनके तात्पर्य की कल्पना कर उन उन मतों को ही ग्राह्य मानकर स्वीकार करते हुए लोग सीधा टेढ़ा आदि विविध मार्ग के अनुगामी होते हैं। इस प्रकार उन सबका सीधे मार्ग में प्रवेश नहीं होता है। विपरीत रूप से बिना अद्वैत मार्ग में प्रवेश किये ही काम चलेगा ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि स्वतन्त्र मार्ग में प्रवेश किये ही काम चलेगा ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि स्वतन्त्र मार्ग से परमात्मा प्राप्त न होगा, विभिन्न मार्गों से अन्तःकरण शुद्ध होने के बाद सीधे मार्ग के आश्रय करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होगी यह रहस्य है। विष्णु पक्ष में भी इसी प्रकार अर्थ है ॥७॥

अभी तक के कथन से सभी शङ्काओं का निराकरण करके हर तथा विष्णु के रूप की व्याख्या करके उनकी अर्वाचीन (नवीन) स्वरूप में स्तुति करते हैं—

हे वरदायिन् प्रभो! आपका वाहन वृद्ध बैल है, खाट का एक पावा (आशा) फरसा, बिछाने का मृगचर्म, अङ्गराग में भस्म तथा आभूषण में सर्प और भोजन पात्र में किसी की खोपड़ी है। बस यह इतनी ही तो आपके पास कुटुम्ब पालन के लिए सामग्री है। फिर भी हे नाथ! पुण्यकर्मा इन्द्रादि देवता उन विलक्षण समृद्धियों को आपकी दयादृष्टि से प्राप्त करके अपने उपभोगों को प्राप्त किये हैं, पर आप अपने लिए थोड़ी सी भी भोग सामग्री नहीं रखते। क्योंकि स्वरूप चैतन्य घन आत्मा में रमण करने वाले पुरुष को मृगतृष्णा के समान विषय भ्रमित नहीं कर पाते ॥८॥

हे वर दाता प्रभो! आप पूर्ण काम परमात्मा हैं तो भी कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए यह इतनी ही साधन सामग्री आपके पास है उसे दिखाते हैं—बड़े ककुद् का एक बुड्ढा बैल है, पलंग का एक पावा

कापालिकानां प्रसिद्धः, परशुः टङ्कः कुठारोः वा, अजिनं चर्म भस्मविभूतिः, फणिनः सर्पाः, कपालं मनुष्यशिरोऽस्थि चेति सप्तकम्। नन्वेवं दरिद्रस्तुष्टोऽपि किं दास्यतीत्यत आह सुरा इत्यादि। सुरास्तु भवत्सेवया भवद्भ्रूप्रणिहितां भवतो भ्रूविक्षेपमात्रेण समर्पितां तां तामसाधारणीमृद्धिं सम्पत्तिं दधति धारयन्ति। त्वमतिद्ररिद्रस्त्वद्भक्तास्तु सर्वे सुरास्त्वत्प्रसादात्समृद्धा इति व्यतिरेकं तु शव्द आह। यो हि अन्यान्धनवतः करोति स तदपेक्षयाधिकधनवान् भवतीति प्रसिद्धं लोके। ननु तर्हीदृशोऽपि स्वयं कथं महोक्षादिमात्रपरिवार इत्यत आह-नहीत्यादि। हि यस्मात्स्वे आत्मनि स्वरूपे चिदानन्दघने आरमत्याक्रीडत इति तथा तं न भ्रमयति न मोहयति। विषयमृगतृष्णा विषया इन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपसगन्धास्त एव मृगतृष्णा जलवुद्ध्या गृह्यमाणा मरीचिका। यथा मृगतृष्णा रविरश्मिरूपा जलविरुद्धस्वभावापि भ्रान्त्या जलमयीवाभासते तथा विषया अपि दुःखरूपा भ्रान्त्या सुखरूपा अवभासन्त इति रूपकार्थः। यत्र जीवोऽपि स्वात्मारामतां प्राप्तो न विषयासक्तो भवति, तत्र किमु वक्तव्यं नित्यमुक्तः परमेश्वरो विषयैर्नाभिभूयत इत्याभिप्रायः। तेन वृषभारूढा खट्वाङ्गपरशुफणिकपालालङ्कृत-चतुर्भुजा चर्मवसना भस्माङ्गरागा विविधभूषणा माहेश्वरी मूर्तिर्गुरूप-देशेन ज्ञाता स्तुत्यादिभिराराध्येत्यर्थः। वस्तुतस्तु पुरुष-प्रधान-महदह

(आशा) जो कपालिकों के पास शस्त्र रूप में रहता है तथा प्रसिद्ध है। परशु गेंड़ासा या कुल्हाड़ी, चर्म, भस्म (राख), विषधर सर्प और मनुष्य के शिर की हड्डी (खोपड़ी) बस यही सात वस्तुएं हैं। शङ्का है कि इतना बड़ा दरिद्र यदि प्रसन्न भी हो गया. तो क्या दे देगा, इस शंका पर आगे "सुराः" इत्यादि शब्दों से कहते हैं। भगवन् देव लोग तो आपकी सेवा करके, आपकी कृपा कटाक्ष मात्र से दी गई उस (इच्छानुसार वस्तु रचना आदि) ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। आप तो अतिशय रंक हैं पर आपके देवता लोग आपकी अनुकम्पा से सभी भांति समृद्ध हैं इस विपरीतता को "तु" शव्द ने वताया है। अर्थात् जो दूसरे को धनवान् वनाता हो वह उसकी अपेक्षा अधिक घनवान् होता है यह संसार में प्रसिद्ध है। शंका 1. जव इतना सामर्थ्य है कि अन्य को धनाढ्य करे तो फिर स्वयं क्यों वुड्ढा वैल आदि ही पारिवारिक संपत्ति रखता है? इस पर "नहि" इत्यादि शब्दों से कहा—इसलिए कि अपने स्वरूप भूत चेतन आनन्दघन आत्मा में विहार करते हुए को (विषय) भ्रमित या मोहित नहीं कर सकते। विषय तो मृगतृष्णा मात्र है। इन्द्रियों के अर्थ-शब्द।, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये मृगतृष्णा हैं। (मरुभूमि में सूर्य) किरणों को जल समझना ही तो मृगतृष्णा है। जैसे मृगतृष्णा सूर्य की किरण ही है तथा जल से अत्यन्त उलटे स्वभाव के होते हुए भी भ्रम से जल रूप दिखाई देती है। उसी भांति विषय भी स्वभाव से दुःख रूप होते हुए सुख रूप दिखाई देते हैं यह रूपकालंकार का भावार्थ है। अभिप्राय यह है कि साधारण जीव भी जिस अपनी आत्मा में रमण अवस्था को प्राप्त करके विषयों में आसक्त नहीं होता, फिर सदा मुक्त स्वरूप परमात्मा विषयों से लिप्त नहीं होता। इस विषय में तो कहना ही क्या। अतः वृषवाहन, खट्वाङ्ग, फरसा, सर्प, तथा कपाल से अलंकृत चतुर्भुज, चर्म वस्त्रधारी भस्म का अङ्गराग धारण आदि विविध भूषण भूषित माहेश्वरी मूर्ति गुरू के उपदेशानुसार जानकर स्तुति पूजा आदि से आराधना के योग्य है। वास्तव में तो पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व अहंकार तत्त्व, पञ्चतन्मात्राएं,

ङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतानि महोक्षादिरूपेण गुप्तानि भगवन्तं महेश्वरमुपासत इत्यागमप्रसिद्धम्। तस्य जगत्कुटुम्बस्य तत्त्वान्येवोपकरणमिति निष्कर्षः।

हरिपक्षे तु। महोक्षः अक्षश्चक्रम्, "अक्षोरथावयवके च विभीतके स्यादक्षाणि पण्डितजना विदुरिन्द्रियाणि" इति धरणिः। महस्तेजोरूपम् भस्मफणिनः भस्मवच्छुभ्रस्य कोमलाङ्गस्य च फणिनः शेषस्याजिनं शरीरत्वक् खट्वा शय्या। तथा कपालम् कंशिरः पाल्यतेऽनेनेति कपालम् शिर उपधानम् तस्यैव भस्मफणिनोऽङ्गं किञ्चिदुच्छ्रितावयवविशेषः। अथवा केन जलेन पाल्यते इति कपालं पद्मं शङ्खो वा तस्मिन्पक्षे भस्म फणिनोऽङ्गम् अजिनं च खट्वा, अङ्गं पर्यङ्कस्थानीयम् अजिनं च तदुपरि आस्तृतवस्त्रस्थानीयमिति बोद्धव्यम्। तथा परशुरिति परशुरामावताराभिप्रायेण। हे वरद एतावत्तव तन्त्रोपकरणमित्यादि पूर्ववत्। अथवा विषयमृगतृष्णा अविद्यान्तःकरणोपरक्तं प्रतिविम्बकल्पं जीवं व्यामोहयत्यपि रामम् अनन्तसत्य ज्ञानान्दात्मकत्वेन योगिनां रतिविषयं त्वां विम्बकल्पं न मोहयति न स्वावरणांशेनाभिभवति। उपाधेः प्रतिविम्बपक्षपातित्वात्। कीदृशी सा। स्वात्मा स्वः सच्चिदानन्दात्मकस्त्वमेवात्मा स्वरूपं यस्याः सा, तथा त्वय्यध्यस्ता सा स्वसत्तास्फूर्तिप्रदं त्वां कथं व्यामोहयेदित्यर्थः। अत्रापि चक्रादीनां भगवद्विभूतित्वं विष्णुपुराणादौ प्रसिद्धम् ।।८।।

इन्द्रियां और पञ्चमहाभूत ये सभी छिप कर बैल आदि के रूप में महादेव की उपासना करते हैं, ऐसा आगमों में प्रसिद्ध है। उनका समस्त संसार ही परिवार है उसके (पालन के) लिए तत्त्व समुदाय ही साधन है। यह महोक्षादिपद का निष्कर्ष है।

विष्णु पक्ष में तो—अक्ष नाम है चक्र का "रथ के चक्का में हरड़ में "अक्ष" शव्द है, पण्डित लोग इन्द्रियों को अक्ष समझते हैं" इस प्रकार धरणि कोश में (प्रसिद्ध) है। महस् से तेज है। अर्थात् तेज युक्त अक्ष है। भस्म के समान श्वेत कोमल शरीर फणिधर सर्प शेष के देह का चर्म शैय्या पलंग है। सिर की जिसके द्वारा रक्षा होती है वह सिर के लिए तकिया रूप में उसी श्वेत सर्प का कुछ उठा हुआ भाग है। अथवा जल के द्वारा जिसका पालन होता है ऐसा कमल या शङ्ख है। इस प्रकार अर्थ करने में भस्म के समान श्वेत फणिधर का अङ्ग है, वह अङ्ग पलंग है। तथा मृग चर्म उस पर विछाने के लिए चादर रूप में है ऐसा समझना चाहिए। परशुराम अवतार में परशु धारण करने से उसके अभिप्राय में फरसा भी उपयुक्त है।

हे वरदायिन् आपके इतने ही कुटुम्ब पालन के साधन हैं इत्यादि पूर्वकथित हर पक्ष के ही समान है। अथवा विषयरूप मृगतृष्णा अविद्या तथा अन्तःकरण सम्वद्ध प्रतिविम्व समान जीव को मोहित करते हुए भी सत्य ज्ञान आनन्द रूप राम जो योगियों के रमण के विषयभूत विम्वस्थानीय आप हैं। आपको अपने आवरण अंश से आवृत्त नहीं कर पाती है। क्योंकि उपाधि प्रतिविम्व का पक्षपात किया करती है। वह उपाधि कैसी है (इस जिज्ञासा में आगे कहते हैं) सत् चित्त आनन्द स्वरूप स्व ही आत्मा जिसकी है वह उपाधि है। वह उपाधि आप में अध्यस्त है, आप ही उसे सत्ता तथा स्पन्दन देते हैं। भला आपको वह मोहित कैसे करेगी। इस पक्ष में भी चक्रादि भगवान् की विभूति रूप है, यह विष्णु पुराणादि में प्रसिद्ध है ।।८।।

एवं स्तुत्ययोर्हरिहरयोर्निर्गुणं सगुणं च स्वरूपं निरूपितम्। सम्प्रति स्तुतेः प्रकारं निरूपयन्स्तौति—

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदम्,
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन्पुरमथन तैर्विस्मित इव,
स्तुवञ्जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ।।९।।

ध्रुवमिति—हे पुरमथन, तैः स्तुतिप्रकारैस्त्वां स्तुवन्न जिह्रेमि नाहं लज्जे। विस्मित इव जातचमत्कार इव। यथा कश्चित् अद्‌भुतं दृष्ट्वा विस्मितस्तत्परवशत्वाल्लोकोपहासमगणयित्वा विचेष्टते तथाहमपि स्तोतुमयं न जानतीति जनो मामुपहसिष्यति—इति लज्जामगणयन् त्वत्स्तुतौ प्रवृत्तोऽस्मीत्यर्थः। तैः कैः प्रकारैरित्याह—ध्रुवमित्यादि। कश्चित् कोऽपि साङ्ख्यपातञ्जलमतानुसारी सर्वं समग्रं जगत् ध्रुवम् जन्मनिधनरहितं सदेव गदति। व्यक्तं वदतीत्यर्थः। नह्यसत उत्पत्तिः सम्भवति न वा सतो विनाश इत्याविर्भावतिरोभावमात्रमुत्पत्तिविनाशशब्दाभ्यामभिलक्ष्यते। तेन परमेश्वरोऽपि तावन्मात्रस्येष्टे न त्वसत उत्पत्तेः, सतो वा विनाशस्येत्यभिप्रायः। इति सत्कार्यवाद एकः पक्षः। तथाऽपरोऽन्यः सुगतमतानुवर्ती सकलमि

अब तक स्तुति योग्य हरि तथा हर का निर्गुण एवं सगुण रूप निरूपण किया। अग्रिम नवम श्लोक में स्तुति के विशेष भेद दिखाते हुए स्तुति करते हैं—

हे त्रिपुरहर! कोई वादी यह सभी दृश्य अदृश्य जगत् नित्य है ऐसी घोषणा करता है, कोई समस्त प्रपञ्च असत् है ऐसा निर्वचन करता है, तथा कोई तो जगत् के समस्त पदार्थों में कुछ सत् है और कुछ असत् है इस प्रकार कहता है। इन सभी मतों से चकित होता हुआ भी उन वादों की सहायता से आपका स्तवन् करता हुआ लज्जित नहीं हो रहा हूँ क्योंकि बाकवादीपना स्वभावतः ढीठ होता है। अर्थात् निर्लज्ज होने पर व्यक्ति जो कुछ मन में आता है बोल दिया करता है ॥९॥

हे त्रिपुरारे! उन विचित्र प्रकार की स्तुतियों से मैं लज्जित नहीं हो रहा हूँ, परन्तु उलटे ही मानों चमत्कार से विस्मित हूँ। जैसे कोई व्यक्ति विलक्षण वस्तु को देखकर विस्मय में पड़कर लोक में उपहास हंसी होगी इसे न गिनकर बताने या जानने का प्रयास करता है उसी प्रकार मैं भी "यह स्तुति करना नहीं जानता इस भांति मेरा लोक में उपहास होगा" इस लज्जा को न गिनता हुआ आपकी स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूँ यह आशय है। वे कौन स्तुति के रूप हैं इस पर कहा—ध्रुवम् आदि शब्दों से। कोई सांख्यमतावलम्बी तथा पातञ्जलयोगमत का अनुयायी समस्त जगत् को जन्म नाश रहित एवं सत् कहता है। अर्थात् जगत् सत् ही है ऐसा स्पष्ट शब्दों से घोषणा करता है। बन्ध्यापुत्रवत् असत् की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है, तथा सत् का नाश भी सम्भव नहीं है, अतः उत्पत्ति विनाश शब्दों से (वस्तु का) प्रकट होना तथा छिप जाना मात्र ही लक्षित (प्रतिपादित) होता है। इस कथन से परमात्मा भी वस्तु के आविर्भाव एवं तिरोभाव में समर्थ है, न कि असत् की उत्पत्ति अथवा सत् के विनाश में समर्थ है यह अभिप्राय है। ऐसा मानने वाला सत्कार्यवाद एक पक्ष है। तथा दूसरा बुद्धमतावलम्बी यह सम्पूर्ण जगत् अध्रुव—क्षणिक स्वभाव है ऐसा कहता है। सत् वस्तु

दमध्रुवं क्षणिकमिति गदति। नहि सतः स्थिरत्वं सम्भवति। अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम्। तच्च सदर्थस्येक्षणयोगेन [1]न विलम्बेनोत्पद्यते इति।

एकस्मिन् क्षणे सर्वार्थक्रियासमाप्तेरुत्तरक्षणेऽसत्त्वमेव। तथा च परमेश्वरस्यापि क्षणिकविज्ञानसन्तानरूपत्वादसावसत उत्पत्तेरीष्टे न तु सतः स्थिरत्वायेति द्वितीयः पक्षः सर्वक्षणिकतावादलक्षणः। तदुभयपक्षासहिष्णुश्च परस्तार्किकः समस्तेऽप्येतस्मिञ्जगति ध्रौव्याध्रौव्ये नित्यत्वानित्यत्वे व्यस्तविषये भिन्नधर्मवर्त्तिनी गदति। (आकाशादिचतुष्कं पृथिव्यादिचतुष्कपरमाणवश्च नित्या) आकाशकालदिगात्ममनः पृथिव्यादिपरमाणवश्च नित्याः इति वा। कार्यद्रव्याणि चानित्यानि। तथा चानित्यानामुत्पत्तिविनाशयोरिष्टे परमेश्वरो न तु नित्यानामपीत्यर्थः। इत्येवं तृतीयः पक्षः। तथा च त्रिष्वप्येतेषु द्वैताङ्गीकारादद्वितीयसन्मात्ररूपस्य परमेश्वरस्य स्पर्शोऽपि नास्तीति सोपाधिकसङ्कुचितैश्वर्यरूपेण स्तुतिः सर्वथा लज्जाकरीत्यर्थः। तर्हि किमिति न लज्जस इत्यत आह।

ननु अहो खलु निश्चितं मुखारता वाचालता धृष्टा निर्लज्जा तथा च मुखरतैव लज्जामपहरतीत्यर्थः। एवं सर्वप्रकारप्रवादकवादादीनामाभासत्वमुक्तम् अद्वितीयवादस्यैव लज्जानास्पदत्वेन सत्यत्वमिति द्रष्टव्यम् एतच्च "त्वयर्कस्त्वं सोमः" इत्यादौ स्पष्टीकरिष्यते।

---

१. सदर्थस्याक्षेपायोगेन पाठान्तरम्

में स्थिरता सम्भव नहीं है। क्योंकि अर्थ क्रिया साधकत्व मात्र ही तो सत्व-सत्ता का लक्षण है, और वह अर्थ क्रिया कारित्व सत् वस्तु के ईक्षण काल में ही है, कालान्तर में सत्ता वस्तु के भीतर उत्पन्न नहीं होती यह मत है। एक क्षण में समस्त अर्थ क्रिया की समाप्ति होने से दूसरे क्षण में असत्व की ही सिद्धि है। और परमेश्वर भी क्षणिक विज्ञान परम्परा रूप है वह असत् से उत्पत्ति करने में समर्थ है न कि सत् के स्थिर करने के लिए समर्थ है, यह दूसरा सर्वक्षणिकवाद रूप पक्ष है। सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद दोनों पक्ष को न सहन करते हुए तीसरा तार्किक समस्त जगत् के पदार्थों में कुछ में नित्यत्व एवं कुछ में अनित्यत्व है ऐसा कहता है। अर्थात् कुछ पदार्थ नित्य स्वभाव और कुछ अनित्य स्वभाव है (आकाश आदि चार और पृथिवी आदि चार के परमाणु नित्य हैं) अथवा आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं, कार्य द्रव्य सभी अनित्य हैं। इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ कि—परमेश्वर अनित्य पदार्थों के उत्पादन तथा नाश में समर्थ है न कि नित्य पदार्थों के उत्पत्ति अथवा नाश में। इस प्रकार यह तीसरा पक्ष है।

निष्कर्ष यह है कि इन तीनों वादों में द्वैत स्वीकृत है तथा अद्वितीय सत्स्वरूप परमेश्वर के प्रतिपादन का गन्ध भी नहीं है, साथ ही उपाधि विशिष्ट सङ्कुचित ऐश्वर्य रूप में (परमात्मा की) स्तुति होने से लज्जा जनक ही है। ऐसी परिस्थितियों में फिर लज्जित क्यों नहीं होते हो? इस पर आगे कहा—अहो यह निश्चित बात है कि वाचालता निर्लज्ज होती है। अर्थात् वाचालता ही मेरी लज्जा हरण करती है, यह आशय है। इस प्रकार वादों की समीक्षा से सभी वादियों के वादों को आभास मात्र कहा। अद्वितीयवाद ही लज्जाजनक न होने से सत्य है यह समझना चाहिए। यह विषय "तुम सूर्य हो तुम चन्द्र हो" इसे २६ श्लोक में स्पष्ट किया जाएगा। विष्णु पक्ष में भी यही अर्थ

हरिपक्षेऽप्येवम्। तत्र पुरमथन शब्दः प्राग्व्याख्यातः ।।९।।

एवं श्लोकनवकेन स्तुतिसामग्रीं निरूप्य स्तुतौ प्रस्तुतायां समस्तप्रभाववतामग्रेसरयोर्हरिविरिञ्च्योरपि त्वत्प्रसादादेव त्वत्साक्षात्कार इत्येवं निरतिशयं माहात्म्यं प्रकटयन् स्तौति—

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चिर्हरिरधः,
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्,
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव कि मनुवृत्तिर्न फलति ।।१०।।

तवेदि—हे गिरिश, तवानुवृत्तिः सेवा किं न फलति। अपि तु सर्वमेव फलति। त्वत्साक्षात्कारपर्यन्तं फलं ददातीत्यर्थः। तत्रान्वयतिरेकाभ्यां कारणतांद्र ढयितुं भगवदनुवृत्तिव्य तिरेके फलव्यतिरेकमाह। यद्यस्मादनलस्कन्धवपुषस्तेजः पुञ्ज-मूर्तेस्तवैश्वर्यं स्थूलं रूपं परिच्छेतुमियत्तयावाधारयितुमुर्पयूर्ध्वं विरिञ्चिर्ब्रह्मा अधोऽधस्ताद्धरिर्विष्णुः यत्नात् सर्वप्रयत्नेन यावद्गन्तुं शक्तौ तावद्यातौ गतौ अनलं नालम्, न परिच्छेतुं समर्थावित्यर्थः। यत्र स्थूलरूपमप्यपरिच्छेद्यं तत्र दूरे सूक्ष्मरूपपरिच्छेदसम्भावना। तेन त्वदनुवृत्तिं बिना हरि-विरिञ्च्योः प्रसिद्धमहाप्रभावयोरपि त्वं न विज्ञेयस्तत्र का

होगा। जिस में पुरमथन शब्द की व्याख्या पूर्व तीसरे श्लोक में कर चुके हैं ।।९।।

अभी नवें श्लोक से स्तुति की सामग्री (मतवादों) का व्याख्यान करके स्तवन प्रस्तुत होने पर प्रभावशाली सभी देवों के अगुवा विष्णु तथा ब्रह्मा को आपकी कृपा से ही आपका साक्षात्कार (हुआ), इस रूप में बहुत बड़ा महात्म्य दिखाते हुए स्तुति करते हैं—

हे गिरिश! अङ्गार के खम्भे के समान आपका जो लिङ्गाकार ज्योतिर्मय रूप (प्रकट हुआ) इसके आदि और अन्त जानने के लिए ब्रह्मा ऊपर की ओर तथा विष्णु नीचे की ओर बड़े प्रयास के द्वारा गए किन्तु (दिव्य हजार वर्ष में भी अन्त न पाने पर अभिमान छोड़) श्रद्धा भक्ति पूर्ण बुद्धि से नतमस्तक होकर अति विनय से वे दोनों स्तुति करने लगे। उनके समक्ष आप उस समय स्वयं प्रकट हो गए। हे दयालो! भगवन्! श्रद्धा भक्ति से की गई आपकी शरणागति क्या फल नहीं देती है? अर्थात् अवश्य फलदायिनी होती है ।।१०।।

हे गिरिश! आपकी सेवा क्या फल नहीं देती? वह तो सभी फलों को देती है। साधारण लौकिक फल से लेकर आपके साक्षात्कार रूप फल तक देती है यह अर्थ है। सेवा में अन्वय व्यतिरेक द्वारा कारणता को दृढ़ सिद्ध करने के लिए भगवान् की सेवा न होने पर फल भी नहीं होता। क्योंकि जिस कारण से अग्नि की स्तम्भरूप तेजोमय मूर्ति के महात्म्य को जानने के लिए, उस स्थूल स्वरूप की लम्वाई आदि जानने के लिए ऊपर ब्रह्मा तथा नीचे विष्णु सम्पूर्ण प्रयास से। जितनी शक्ति थी उतना गए पर नाप करने में समर्थ न हो सके। जहां जिसका स्थूल रूप भी परिच्छेद्य न हो वहां सूक्ष्म रूप का परिच्छेद पाने की सम्भावना तो अधिक दूर है। अतः आपकी सेवा विना प्रभावों से प्रसिद्ध ब्रह्मा विष्णु के भी ज्ञान के आप विषय नहीं होते तो दूसरे (सेवा भक्ति विहीन) जनों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। अब तक भक्ति के बिना फल नहीं यह कहकर आगे भक्ति

वार्ताऽन्येषामिति व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाह। ततस्तस्मात् कारणात् स्वप्रयत्नवैफल्यादनन्तरं ताभ्यां हरिविरिञ्चिभ्याम्। "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इति चतुर्थी। तयोर्ज्ञानायेत्यर्थः। कीदृशाभ्यां भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्याम्। भक्तिरत्र कायिकी सेवा, श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः (मानसी सेवा), तयोर्भरोऽतिशयस्तेन गुरु श्रेष्ठं निरतिशयं यथा तथा गृणद्भ्यां स्तुवद्भ्यां वाचिकीं सेवां कुर्वद्भ्याम्। यद्धि गुरुतरं भवति शिलोच्चयादि तत्पवनपर्जन्यादिभिर्न विक्रियामुपैति अलघुद्रव्यत्वात्, तथा स्तुतिरप्यतिगौरववती शिलोच्चयादिस्थानीया पवनपर्जन्यस्थानीयैर्विघ्नैश्चालयितुं न शक्येति गुरुशब्देन ध्वनितम्। एवं रूपेण तवैश्वर्यं स्तुवद्भ्यां ताभ्यां किमित्याह। स्वयं तस्थे स्वयमेव न तु तयोः प्रयत्नेन तस्थे स्वमात्मानं प्रकाशयति स्म। अत्र तवैश्वर्वमिति कर्तृपदं द्रष्टव्यम्। "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" (पा० १।३।२३।) इत्यात्मनेपदम्। यद्वागृणद्भ्यामिति कर्तरि तृतीया। तस्थे स्थितं निवृत्तमिति भावप्रत्ययः। ततस्तयोर्निवृत्तावपि किं तवानुवृत्तिर्न फलति। अपितु फलत्येवेत्यर्थः। तस्मादेव हरिविरिञ्चिभ्यामपि त्वदनुवृत्त्यैव त्वं साक्षात्कृतः का वार्तान्येषामित्यन्वय उक्तः। एवं त्वदनुवृत्तिरेव सर्वं फलतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकृतम्।

---

१. पा० सू० १।४।३४।

से फल होता है इस प्रकार अन्वय रूप से कहते हैं। इसी कारण से अपने परिश्रम को निष्फल जानने के बाद दोनों ब्रह्मा तथा विष्णु (के ज्ञानार्थ) "श्लाघ् ह्नुङ्, स्थाशप् धातु के द्वारा बताने के अभिप्राय में चतुर्थी विभक्ति होती है" इससे ताभ्यां में चतुर्थी है। आशय यह है कि उन दोनों के ज्ञान के लिए जो श्रद्धा भक्ति के उत्तम भार से बोझिल (नम्र) हो स्तुति तत्पर थे। यहां भक्ति माने शारीरिक सेवा तथा श्रद्धा अस्तितामयी बुद्धि (मानसी सेवा), इन दोनों की अधिकता तथा उससे जो अतिशय श्रेष्ठ स्तवन कर्म। उसमें संलग्न हो वाणी के द्वारा सेवा परायण थे। जो पदार्थ अधिक भारी होता है, जैसे पर्वत शिखर आदि वह जल वर्षा आदि से विकृत नहीं होता, छोटा पदार्थ न होने से, उसी भांति स्तुति भी बड़ी गौरवपूर्ण है पर्वत सदृश है, वर्षा के समान विविध विघ्नों के कँपायी नहीं जा सकती है यह बात "गुरु" पद से ध्वनि रूप में व्यक्त हो रही है। इस रूप में आपके ऐश्वर्य की स्तुति करते हुए उन दोनों के लिए क्या हुआ? यह (आगे) कहते हैं। भगवन् उन दोनों के प्रयत्न की अपेक्षा न करते हुए स्वयं प्रकट हो गये। अपने स्वरूप को उनके लिए प्रकट कर दिया। यहां "तवैश्वर्यम्" पद कर्ता समझना चाहिए। प्रकाशन तथा स्थिरता बताने में धातु से आत्मनेपद प्रत्यय होता है" इस सूत्र से तस्थे में आत्मनेपद क्रिया है। अथवा "गृणद्भ्याम्" इस पद में कर्ता अर्थ में तृतीया विभक्ति है। स्थित हो गये, स्तुति कर्म से विरत हो गये। इस रूप में भावार्थ प्रत्यय है। उन दोनों के निवृत्त हो जाने पर भी क्या आपके सेवक द्वारा की गई सेवा फलदायिनी नहीं होती? अर्थात् अवश्य ही फल देती है। इसी से ब्रह्मा विष्णु को भी आपकी सेवा करने पर ही आपने प्रत्यक्ष दर्शन दिया फिर अन्य साधारण जनों के सम्बन्ध में तो बात ही क्या कहनी है। इस प्रकार सेवा जन्य फल में अन्वय कहा। पूर्व कथन से आपकी सेवा ही समस्त फल देती है यह बात अन्वय तथा व्यतिरेक से निश्चित की।

हरिपक्षे तु गिरौ गोवर्धनाख्ये शेते गोपी रमयन्निति गिरिशः श्रीविष्णुः। अथवा गिरिं मन्दरं श्यति तनूकरोति क्षीरोदं मन्थन्निति गिरिशः। योजनिका पूर्ववत्। हरिः सर्पः शेषः विरिञ्चिशेषाभ्यामपि त्वत्कृपयैव त्वं प्राप्त इति पूर्ववत्सर्वम्। अत्र "अनिल" इति क्वचित् पाठः स न साम्प्रदायिकः। तथा चान्यत्रोक्तम् "नोर्ध्वं गम्यः सरसिजभुवो नाप्यधः शार्ङ्गपाणेरासीदन्तस्तव हुतवहस्कन्धमूर्त्या स्थितस्य" इति ।।१०।।

अथ बलिरावणयोरसुरयोरपि भगवदनुग्रहं दर्शयन्स्तौति—

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं,
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः,
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ।।११।।

अयत्नादिति। हे त्रिपुरहर! स्थिराया निश्चलायास्त्वद्भक्तेस्तव सेवायाः विस्फूर्जितमिदं प्रभावोऽयम्। किंविशिष्टायास्त्वद्भक्तेः शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः। शिरांस्येव पद्मानि अर्थाद्रावणस्य तेषां श्रेणी पंक्तिः तया रचितः कल्पितश्चरणाम्भोरुहयोः पादपद्मयोर्बलिरुपहारो यस्यां सा तथा रावणेन हि नवभिर्निजशिरोभिः स्वहस्तकृत्तैः शम्भोरूपहारः

विष्णु पक्ष में तो जो गोवर्धन नामक गिरि (पर्वत) में गोपियों को रमण कराते हुए शयन करने वाले गिरिश श्रीविष्णु हैं। अथवा गिरि (मन्दराचल) को लघु एवं छोटा किया, क्षीर सागर के मथने के समय, अतः (गिरिश) विष्णु हुए। शेष शब्दार्थों की योजना प्रथम पक्ष के समान है। हरि नाम सर्प का है। अतः सर्पराज शेष और ब्रह्मा के लिए भी आप अपनी कृपा से ही प्रत्यक्ष हुए। आपकी कृपा से ही उन्होंने आपको प्राप्त किया। अन्य पदयोजना पूर्व की ही है। यहां "अनिल" ऐसा किसी पुस्तक में पाठ है पर वह पाठ सांप्रदायिक नहीं है। इस सम्बन्ध में दूसरी जगह कहा है—"अग्निस्तम्भ" सदृश मूर्तिधारी आप स्थित रहे, इस रूप के ऊपरी भाग का ज्ञान ब्रह्मा को नहीं हुआ तथा नीचे का ज्ञान शार्ङ्गपाणि विष्णु को नहीं हो सका वे दोनों ज्योतिर्मय लिङ्ग के मध्य ही रह गये ।।१०।।

अव राजा बलि और रावण जैसे असुरों को भी भगवत्कृपा मिली, इस प्रसङ्ग को दिखाते हुए स्तवन करते हैं—

हे त्रिपुरहर स्वामिन्! दशानन रावण ने जो तीनों लोकों को बिना प्रयास से वैरि रहित करके प्राप्त कर लिया तथा युद्ध में अपना प्रतियोद्धा न पाकर रण-लिप्सा की खुजलाहट उसके भुज दण्डों में रह ही गई अर्थात् उससे लड़ने वाला कोई न रहा। उसी रूप में अपने वाहुओं के लिए सर्वत्र विहार करता था। यह सब तो आपके चरण कमलों में सिर रूप कमलों की बलि प्रदान करने में लगी, आपके भक्ति का ही चमत्कार है ।।११।।

हे त्रिपुरहर प्रभो! आपके प्रति निश्चल भक्ति सेवा का अति प्रसिद्ध यह प्रभाव है। किस विशेषता से युक्त आपकी भक्ति का (प्रभाव है इस पर सिर पद्म इत्यादि से कहा) रावण के सिर ही तो कमल में तथा उन पंक्तिवद्ध सिरों से आपके चरण पंकजों के प्रति किए उपहार युक्त भक्ति का (प्रभाव है) क्योंकि रावण ने अपने हाथों

कृत इति पुराणप्रसिद्धम्। किं तद्विस्फूर्जितमित्यत आह। यत् दशास्यो रावणो बाहून् विंशतिभुजान् कीदृशान्? रणाय युद्धाय कण्डूः खर्जूः अतिस्पृहेति यावत्। तया परवशांस्तदधीनानभृत धृतवान्। रणकण्डूर्हि रणेनैव निवर्तते। रणासम्भवाच्च सर्वदा कण्डूरेव तद्भुजेष्विति भावः। तर्हि रणं सम्पाद्य किमिति तत्कण्डूं न निवर्तयतीति चेन्न, प्रतिमल्लाभावदित्याह त्रिभुवनं त्रैलोक्यमवैरव्यतिकरं न विद्यते वैरस्य विरोधस्य व्यतिकरः कारणं दर्पादि यत्र तत्तथा आपाद्य सम्पाद्य त्रैलोक्यवर्तिनो वीरानिन्द्रादीन् स्वदास्यं नीत्वेत्यर्थः। तदप्ययत्नादयत्नेनैव। स्वयमेव रावणपराक्रमं श्रुत्वा सर्वे वीरा दर्पादि त्यक्तवन्त इत्यर्थः। तथा चानायासेनैव निर्जितत्रिजगतो रावणस्य भुजानां कण्डूर्नैव शान्तेत्येष शौर्यातिशयो भगवद्भक्तेरेव प्रभाव इत्यर्थः। "आसाद्य" इति क्वचित् पाठः। तस्य प्राप्येत्यर्थः।

हरिपक्षे तु त्रीणि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यानि पुराणि भक्तानं जीवानां स्वसाक्षात्कारेण हरतीति त्रिपुरहरो विष्णुः। हे त्रिपुर हर मोक्षदायक विष्णो! दशास्यो यत्तादृशान् वहून् भुजानमृत तत्त्वद्भक्तेरेव पूर्वं कृताया इदानीं फलरूपेण परिणममानायाः, अतएव स्थिराया अनेककल्पव्यवधानेऽपि यावत्फलपर्यन्तं स्थायिन्यास्तव सेवाया विस्फूर्जितमिदं नान्यस्य प्रभावोऽयमित्यर्थः। त्वदीयवैकुण्ठपुरद्वारपालस्य पार्षदप्रवरस्य व्रह्मशापव्याजेन

से ही अपने सिरों को काट-काटकर भगवान् शङ्कर को भेंट किया था यह विषय पुराणों में प्रसिद्ध है। वह प्रभाव क्या है इस पर कहते हैं— रावण ने जो बीस भुजाओं को (धारण किया) कैसी भुजाएँ? जो युद्ध के लिए अतिशय इच्छा के वशवर्ती थीं। उन भुजाओं को धारण किया। युद्ध इच्छा की खुजली तो युद्ध के द्वारा ही शान्त होती है। रण से उत्पन्न खुजली सर्वदा उसके वाहुओं में रही यह भाव है। तब तो युद्ध करके क्यों नहीं उस खाज को मिटा लेता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उससे लड़ने योग्य कोई वीर नहीं रहा यह कहा है कि (त्रिभुवनम्) वैर विरोध शून्य त्रैलोक्य को उसने प्राप्त कर लिया था। वैर-विरोध का कारण अभिमान आदि तीनों लोकों में किसी में न रहा। इस रूप में उसने त्रिलोक प्राप्त किया था। भाव यह है कि तीनों लोकों के इन्द्रादि वीरों को जीतकर अपना दास बना चुका था। वह भी बिना परिश्रम से ही। रावण के पराक्रम को सुनकर सभी वीरों ने अभिमान आदि स्वयं छोड़ दिया था। अभिप्राय यह है कि बिना परिश्रम से तीनों लोकों को जीते हुए रावण के भुजदण्डों की खुजली नहीं शान्त हुई। इस प्रकार शूरता का वैशिष्ट्य भगवद्भक्ति का ही प्रभाव है। किसी पुस्तक में "आसाद्य" ऐसा पाठ है। उसका अर्थ "प्राप्त करके" है।

विष्णु पक्ष में तो अपना साक्षात्कार करा के भक्त जनों के जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन नगरों को हर लेते हैं इसलिए त्रिपुरहर विष्णु हुए। हे त्रिपुरहर मोक्षदाता विष्णो! दशमुख रावण ने प्रवल यशपराक्रमी बीस भुजाओं को धारण किया, पूर्व कल्प में की गई आपके प्रति स्थिर भक्ति का इस जन्म में फल परिणाम है, अतएव अनेक कल्पों के बीत जाने पर भी जब तक फल न हो जाए तव तक स्वभावतः स्थिर रहने में समर्थ आपकी भक्ति रूप सेवा का चमकता हुआ यह प्रभाव है, न कि अन्य का फल है। वैकुण्ठ नगरी का द्वारपाल सभी आपके पार्षदोंमें श्रेष्ठ (जय विजय) ब्रह्मशाप के व्याज से आसुरी योनि में रहते हुए भी रावण का निरङ्कुश पुरुषार्थ भी आपकी भक्ति

त्वदिच्छयैवासुरीं योनिमनुभवतोऽपि रावणस्य त्वद्भक्तिप्रभावादेव निरतिशयं पौरुषमित्यर्थः। तथा च बलेर्वैरोचनेः त्वद्भक्तेर्विस्फूर्जितमिदं यागशालायां त्वदागमनत्वत्पाणितोय-दानत्वच्चरणाम्बुजस्पर्शनादि एतत्सर्वं सूचयन् सम्बोधयति। हे शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुह! अत्रापि बलेरिति सम्बध्यते। बलेः शिर एव पद्मश्रेणी पद्ममयी निःश्रेणिका पादविक्षेपभूमिस्तस्यां रचितमर्पितं चरणाम्भोरुहं येन स तथा। योगपद्मपीठे हि भगवच्चरणारविन्दं तिष्ठतीति शास्त्रप्रसिद्धेः भगवच्चरणारविन्दाधारत्वे बलेः शिरोऽपि पद्मपीठत्वेन निरूपितम्। शिरः शब्दस्य नित्यसापेक्षत्वाच्चात्र सापेक्ष-समासो न दोषाय, देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत्। बलिना खलु भगवद्वामनावतारप्रार्थनया पदत्रयमिता भूमिर्देयेति प्रतिज्ञातम्, तत्र पदद्वयेनैव सर्वस्मिञ्जगति भगवताक्रान्ते स्वसत्यपालनाय तृतीयपादस्थाने स्वशिर एव बलिना दत्तम्, तच्च भगवता स्वपादाम्बुजेनावष्टब्धमिति पुराणप्रसिद्धम्। न ह्येतादृशः प्रसादो ब्रह्मादिभिरपि लब्धोऽस्ति तस्माद्बलिकृतायास्त्वद्भक्तेरेव प्रभावोऽयमित्यर्थः ।।११।।

एवं बलिरावणयोर्भक्तिवशादनुग्रहं प्रदर्श्य तयोरेव दर्पवशान्निग्रहं प्रदर्शयन् स्तौति—

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनम्,
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि,
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ।।१२।।

के कारण ही रहा। रावण के समान विरोचन पुत्र बलि की आपके प्रति भक्ति का स्पष्ट चमकता हुआ यह प्रभाव है, यज्ञशाला में आपका पधारना आपके हाथ में जल देना, तथा आपके चरण कमल का स्पर्श करना (दर्शन) आदि सभी इस वात को सूचित करते हुए (भगवान् को) सम्बोधित करते हैं—हे शिरः पद्म श्रेणी रचित चरणाम्भोरुह! इस सम्बोधन में भी शिरः शब्द के अन्वय के लिए बलि पद का सम्बन्ध है। बलि का सिर ही कमलमय निःश्रेणिका—चरण धारण की भूमि है। उसमें चरण कमल जिसने रखा वह शिरःपद्म श्रेणी रचित चरणाम्भोरुह आप हैं। क्योंकि पूजा शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि भगवान् का चरण कमल योगपद्मपीठ पर शोभित होता है, अतः भगवच्चरणारविन्द के आधार रूप में बलि राजा का शिर भी पद्मपीठ की भांति बताया गया। यहां शिरः शब्द की नित्य आकांक्षा होने से सापेक्ष समास दोष नहीं है, "देवदत्त का गुरुकुल" है, इस पद के समान निर्दुष्ट है। वामन अवतार धारी भगवान् की याचना से बलि ने तीन पग नपी भूमि दूंगा ऐसी प्रतिज्ञा की थी। उस समय दो पग में ही समस्त जगत् भगवान् के नाप लेने पर अपने सत्य के पालनार्थ तीसरे पग के रखने के स्थान में बलि ने अपना शरीर ही दे दिया था, तथा उस सिर पर भगवान् ने अपने चरण कमल रोका, यह विषय पुराण प्रसिद्ध है। ब्रह्मा आदि देवताओं ने भी तो इस प्रकार आपकी कृपा प्राप्त की यह सब बलिकृत आपकी भक्ति का ही प्रभाव है ।।११।।

पूर्व श्लोक से बलि तथा रावण की भक्ति से वर प्राप्ति दिखाकर उन्हें अभिमान आने पर दण्ड मिला यह दिखाते हुए स्तुति करते हैं—

हे त्रिपुरहर! आपके निवास स्थान कैलाश पर्वत के विषय में आप की सेवा भक्ति से प्राप्त किये हुए बाहुबल के अभिमान में आकर तौलने लगा, उस समय आपके पैर के अंगूठे की नोक के नाम

अमुष्येति।। हे त्रिपुरहर! अमुष्य पूर्वश्लोकोक्तस्य रावणस्य प्रतिष्ठा स्थितिः त्वयि अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि सति पातालेऽप्यलभ्या आसीत्। अलसं मन्दं यथा स्यात्तथा चलितं कम्पितमङ्गुष्ठिशिरोऽङ्गुष्ठाग्रं येन स तथा तस्मिन्। चलितमिति ह्रस्वत्वं च कम्पतेश्चलतेर्मित्वानुशासनात्। तथा च तवाङ्गुष्ठकम्पनमात्रेणैव तस्य वीराभिमानिनोऽधः-प्रवेशोऽशक्यप्रतिकार आसीदित्यर्थः। अमुष्य किं कुर्वतः? त्वदधिवसतावपि कैलासे तव मन्दिरेऽपि स्फाटिकगिरौ भुजवनं भुजवृन्दं विंशतिसङ्ख्याकं वलाद्विक्रमयतोऽतिशौर्येण व्यापारयतः। इममुत्पाट्य लङ्कायां नेष्यामीत्यभिप्रायेण भुजचेष्टां कुर्वत इत्यर्थः। कीदृशं भुजवनम्? त्वत्सेवासमधिगतसारं तव सेवया समधिगतः प्राप्तः सारो वलं येन तत्तथा। त्वत्प्रसादेनैव बलमासाद्य त्वद्गृहमुत्पाटयतीत्यहो कृतघ्नता मौढ्यं चेत्यभिप्रायः। एवं हि पुराणप्रसिद्धम् "भगवत्प्रसादादासादितवलेन रावणेन स्वबलपरीक्षार्थं भगवन्निवासस्यापि कैलासस्योत्पाटनमारब्धम् ततश्च पार्वत्या भीतया प्रार्थितो भगवान् कैलासस्याधोगमनार्थमङ्गुष्ठाग्रमात्रं शनैर्व्यापारयामास। तावन्मात्रेणैव क्षीणवलो रावणः पातालं प्रविवेश। पुनश्च भगवता करुणया समुद्धृतः" इति ननु भगवत्प्रसादाल्लब्धवरो रावणः कथं भगवन्तं तदानीं विस्मृतवान्

मात्र हिलने से उस रावण की (दब जाने से) पाताल में भी स्थिति न हो सकी नीचे खसकता ही गया। अतः निश्चित है कि दुष्ट व्यक्ति उन्नति प्राप्त करके मोहित हो जाता है, कृतज्ञता भूल जाता है ।।१२।।

हे त्रिपुरारे! अभी जिस रावण की विशेष समृद्धि कही गई। आप के अंगूठे की नोंक के यों ही साधारण रूप में हिल जाने से पाताल में भी उस रावण की स्थिति अलभ्य रही। आलस्य-अतिमन्द रूप में चलित कंपाया है पाद के अंगूठे की नोंक को जिसने इस रूप में आपके करने पर चलित पद में 'इ' ह्रस्व कम्पनार्थक तथा चलनार्थक धातुओं के मित्व होने से है। आशय यह है कि आपके पादाङ्गुष्ठ के कम्पन मात्र से ही अपने में वीरत्व का अभिमानी रावण नीचे धंसता गया। 'उसका नीचे जाना न हो' यह उसकी शक्ति के बाहर ही रहा। रावण उस समय क्या कर रहा था? आपके मन्दिर निवास स्थान स्फटिक के समान स्वच्छ कैलाश पर्वत पर भी अपने वीस भुजाओं के बल के घमण्ड से सभी बल से हिलाने में प्रयास करने लगा। उसका यह अभिप्राय था कि इस कैलाश को उखाड़ कर लंका में ले जाऊं, अतः अपने हाथों को इस कार्य में उसने लगाया था। उसके बाहु कैसे थे? आपकी सेवा से समधिगतसार थे। अर्थात् आपकी सेवा से उन बाहुओं ने बल प्राप्त किया था। आपकी कृपा से ही बल प्राप्त कर आपके घर को ही उखाड़ने लगा यह वड़ी आश्चर्यजनक उसकी कृतघ्नता एवं मूर्खता है यह अभिप्राय है। ऐसा कथानक पुराणों में प्रसिद्ध है भगवान् शंकर की कृपा से ही रावण ने बल प्राप्त किया और अपने बल की परीक्षा लेने के लिए शंकर के निवास स्थान कैलाश पर्वत को ही उखाड़ने लगा। उस समय अम्बा पार्वती के भयभीत हो (शिव से) रक्षार्थ प्रार्थना करने से भगवान् ने कैलाश को नीचे जाने के लिए अंगूठे की नोक को धीरे से हिला दिया। बस इतने से ही रावण बल पराक्रम रहित हो पाताल पहुंच गया। बाद में करुणा से भगवान् ने उस का (पाताल से) उद्धार किया। शंका है कि कृपा से रावण ने वर

इत्यत आह—ध्रुवं निश्चितम् उपचितःसमृद्धः सन् खलः कृतघ्नो मुह्यति कृतं विस्मरति। स्वोपचयहेतुमपि न गणयतीत्यर्थः।

हरिपक्षे तु कैलासे केलिः क्रीडा सैव प्रयोजनमस्येति कैलः कैलोऽसिः खड्गो यस्य सः कैलासिः इच्छामात्रेण निर्जितसर्वशत्रोरपि तव क्रीडार्थमेव नन्दकधारणमित्यर्थः। अमुष्य बलेः त्वदधिवसतौ त्वन्निवासे तव स्वत्वाभिमानाद्भुजवनं हस्तोदकं विक्रमयतः मम स्वत्वत्यागपूर्वकमेतस्य प्रतिग्रहीतुः स्वत्वमुत्पादयामीत्यभिप्रायेण भगवतः पाणावुदकं प्रयच्छतः। कीदृशं भुजवनम्? त्वत्सेवया समधिगतः सारः सौभाग्यविशेषो येन तत्तथा। तव पाणिपद्मसम्बन्धेनातितरां शोभमानमुदकमित्यर्थः। तथा च सर्वजगन्निवासस्य तव स्व-त्वास्पदीभूतं यत्स्वकीयमिति मत्वा तुभ्यं ददतो बलेर्महानेवापराधः त्वया तु परमकारुणिकेन प्रतिज्ञातविक्रमत्रयमित भूमिदानेऽपि तस्यासामर्थ्यमासाद्य तस्य मत्ततानिवृत्तये योग्य एव दण्डः कृत इत्याह। त्वयि अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि सति तस्य प्रतिष्ठा स्थितिः पातालेऽप्यलभ्यासीत् का वार्ता स्वर्गमर्त्ययोः। अथवा पाताले विद्यमानस्यापि बलेरिन्द्रादिभिरप्यलभ्या प्रतिष्ठा कीर्तिरासीत्। तत्र सर्वदा भगवतः सन्निहितत्वादिति भावः। अलसं सलीलं चलितः कम्पितोऽङ्गुष्ठः शिरशि अर्थाद्बलेर्येन तस्मिन्। तथा तृतीयविक्रमभूम्यर्थं बलिना शिरसि

प्राप्त किया फिर उनकी दया से ही मिले बल में भगवान् को ही क्यों भूल गया। इस पर आगे कहा—ध्रुव निश्चित है कि उन्नति को प्राप्त हुआ खल-कृतघ्न मोहित हो जाता है, किये गये उपकार को भुला देता है। अर्थात् अपने बढ़ने का कारण (उपकारी) को ही नहीं गिनता।

हरि पक्ष में तो पद योजना-कैलासे केलि क्रीडा प्रयोजन जिसका हो वह कैल है, कैलार्थ असि (तलवार) जिसके हो वह कैलासि है। केवल इच्छा मात्र से ही सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी क्रीडार्थ ही आप खड्ग धारण करते हैं। यह बलि आपके निवास तथा अधिकार की वस्तु तीनों लोक में हठ से "यह तीनों लोक मेरा है इस भांति स्वामिपने के अभिमान से हाथ के जल को डालते हुए मेरा अपना अधिकार हटा कर इस याचक का अधिकार कर दूँ" इस अभिप्राय से भगवान् के हाथ में जल डाल रहा था। कैसे हस्त जल था। आपकी सेवा से सौभाग्य विशेष उस हाथ ने प्रांप्त किया था एवं आपके हस्त पंकज सम्बन्ध से जल अधिक शोभित हो रहा था। आशय यह है कि सर्व जगत् आपका निवास स्थान एवं आप ही में सर्व जगत् है अतः आपके अधिकार की वस्तु आपको ही दान करने वाले बलि का बहुत वड़ा अपराध था। आप बड़े दयालु हैं प्रतिज्ञा की हुई तीन पग भूमि के दान करने में भी उसे सामर्थ्य हीन वना कर उसकी उद्दण्डता समाप्त करने के लिए उचित ही दण्ड दिया यह कहते हैं—"त्वयि" इत्यादि। खिलवाड़ मात्र से जव चलाए गये पादाङ्गुष्ठ के बल से उस समय उसकी पाताल में भी स्थिति न हो सकी, स्वर्ग तथा मनुष्य लोक के सम्बन्ध में तो वात ही क्या। अथवा पाताल में रहते हुए वलि की प्रतिष्ठा कीर्ति इन्द्र आदि के प्राप्ति के बाहर ही रही क्योंकि वहां भगवान् सदा समीप में निवास करते हैं यह भाव है। लीला से चलाया है अंगूठा बलि के सिर पर जिसने इस रूप में आप के रहते हुए तथा तीसरे पग भूमि के लिए बलि के सिर बढ़ाने (झुकाने) पर उस समय

प्रसारिते तत्र च त्वदीयपादाङ्गुष्ठसम्वन्धमात्रेणैव तस्य पातालप्रवेशो जात इत्यर्थः। ध्रुवमुपचित इत्यर्थान्तरन्यासः पूर्ववत्। अथवा खलोऽयमसुरो वलिरुपचितः मुह्यति। अतो मोहनिवृत्तयेऽपचितः कर्तव्य इति भगवतोऽभिप्रायवर्णनम्। "[1]यस्याहमनुगृहणामि तस्य वित्तं हराम्यहम्" इति भगवद्वचनात् ।।१२।।

पूर्वत्र भगवद्विषये समुन्नतयोर्वलिरावणयोरत्यन्तमवनति दर्शिता। अधुना तत्रावनतयोरिन्द्रवाणयोरत्यन्तसमुन्नतिं दर्शयन् हरिहरौ स्तौति—

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सतीम्,
अधश्चक्रे वाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो,
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ।।१३।।

यदिति। सुत्राम्ण इन्द्रस्यर्द्धिं सम्पत्तिं परमोच्चैः सतीमप्यधश्चक्रे न्यक्कृतवान्। वाणो वलिसुतः। कीदृशः? परिजनविधेयत्रिभुवनः परिजनो दासस्तद्वद्विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्य, परिजनानामिव विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्येति वा। स तथा उच्चैः सतीं यदधश्क्रे तदन्यत्र चित्रमपि तस्मिन् वाणे न चित्रं नाश्चर्यम्। कीदृशे? त्वच्चरणयोर्वरिवसितरि नमस्कर्तरि। इन्द्रसम्पत्तेरप्यधःकरणं त्वन्नमस्कारस्य न पर्याप्तफलं किन्त्वेकदेशमात्रमित्याह-न कस्या

---

१. भागवत १०।८८।८।

आपके पादाङ्गुष्ठ के सम्बन्ध मात्र से ही उसका पाताल प्रवेश हो गया। निश्चित है कि बढ़ा हुआ खल (कृतज्ञता भूल जाता है) यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार पूर्व योजना जैसा ही है। अथवा यह बलि खल तो है ही (ऐश्वर्य से) बढ़ने पर मोहित होता है। इससे मोह हटाने के लिए इसे नीचा करना चाहिए यह भगवान् का अभिप्राय बताया गया। "जिस पर मैं कृपा करता हूँ उसका धन हर लेता हूँ" इस प्रकार (इस अर्थ के समर्थन में) भगवद्वाक्य है ।।१२।।

१२वें श्लोक में भगवान् से खूब बढ़े हुए बलि तथा रावण की अतिशय दुर्गति हुई यह दिखाया गया। अब आगे दुर्गति को प्राप्त हुए इन्द्र और बाणासुर का अत्यधिक अभ्युदय दिखाते हुए हरि तथा हर की स्तुति करते हैं—

हे भोले दानी प्रभो! तीनों लोक को अधीन करने में समर्थ बाणासुर ने इन्द्र की अपार सम्पत्ति को जो अपने सामने नीचा कर दिया वह तो आपके चरण शरणागत उस बाणासुर के विषय में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि आपके सामने सिर का झुकाना किस उन्नति के लिए नहीं होता? अर्थात् आपके सामने सिर झुकाने मात्र से सभी उन्नति हो जाती है ।।१३।।

बलि पुत्र बाणासुर ने बहुत बढ़ी-चढ़ी इन्द्रदेव की सम्पत्ति को (अपनी सम्पदा से) नीची बना दिया। कैसा बाणासुर था। दास के समान तीनों लोक जिसके वशवर्ती थे। अथवा परिजन-परिवार के समान त्रैलोक्य जिसका था। ऐसे विलक्षण उस बाणासुर ने पर्याप्त बढ़ी हुई सम्पत्ति को जो नीचा दिखा दिया वह दूसरे के लिए आश्चर्यकारी होते हुए भी बाण के लिए आश्चर्यकारी नहीं है। कैसे बाण में? आपके चरण कमल को नमस्कार करने वाले बाणासुर में। इन्द्र के वैभव को नीचा कर देना आपके नमस्कार का पूरा फल नहीं है। यह तो नमस्कार के फलों का एक भाग ही है इसको न कस्या इत्यादि से कहा है।

इति। त्वयि विषये शिरसो याऽवनतिर्नमस्क्रिया सा कस्यै उन्नत्यै न भवति। अपितु सर्वामेवोन्नतिं मोक्षपर्यन्तां जनयितुं समर्था भवत्येवेत्यर्थः। अवनतिरप्युन्नतिहेतुरित्यतिशयोक्तिसङ्कीर्णोऽयमर्थान्तरन्यासः सर्वोत्कृष्टत्वमचिन्त्यमहिमत्वं च भगवतः सूचयतीति भावः।

हरिपक्षे तु परम वरद, सुत्राम्ण इन्द्रस्य बाणः शर एकोऽपि ऋद्धिं सम्पत्तिमुच्चैरधोऽपि सतीं त्रिभुवनव्यापिनीं चक्रे कृतवान् इति यत् तत्तस्मिन् सुत्राम्णि न चित्रमित्यादि पूर्ववत्। त्वत्प्रसादादेव सर्वानसुरानेकेनापि बाणेन जित्वा त्रिभुवनराज्यं प्राप्तवानिन्द्र इत्यर्थः। अत्र बाण इति शस्त्रमात्रोपलक्षणम्। कीदृशो बाणः। परिजनवद्विधेयमायत्तं त्रिभुवनं यस्मात्स तथा शेषं पूर्ववत् ।।१३।।

अधुना कालकूटप्रलयजलयोः संहारं दर्शयन् शङ्करनारायणौ स्तौति—

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा,
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो,
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ।।१४।।

अकाण्डेति। हे त्रिनयन! विषं समुद्रमथनोद्भूतं कालकूटाख्यं गरलं संहृतवतः पीतवतस्तव कण्ठे यः कल्माषः कालिमासीत् स

आपके प्रति सिर का झुकाना। सिर झुकाकर नमस्कार करना कौन सी उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं होता। सही बात तो यह है कि सभी प्रकार की उन्नति मोक्ष पर्यन्त फल उत्पन्न करने में समर्थ होती ही है। अवनति भी उन्नति का कारण है यह अतिशयोक्ति सहित अर्थान्तरन्यास अलंकार है, इससे सर्वश्रेष्ठता, तथा अचिन्त्य महिमा भगवान् की सूचित की गई है।

हरिपक्ष में तो परम वरद! प्रभो! इन्द्र के एक ही शर (वाण) ने (वहुत कम सम्पदा थी) अत्यधिक ऊंची कर त्रैलोक्य भर में फैला दिया। यह उस इन्द्र के विषय में आश्चर्य की बात नहीं है आपकी कृपा से ही सभी दैत्यों को एक ही बाण (अस्त्र) से जीत कर तीनों लोक का राज्य इन्द्र ने प्राप्त किया यह भाव है। यहां "वाण" पद सभी शस्त्र (वज्रादि) का निर्देशक संकेत है। कैसा इन्द्र का वाण (आयुध) था? परिवार या दास के समान अपने अधीन है तीनों लोक जिससे इतना प्रभावशाली शस्त्र था। शेष पूर्व योजना ।।१३।।

इस श्लोक में कालकूट विष तथा प्रलयकारी जल का संहार (समेटना) दिखाते हुए शंकर और नारायण की स्तुति करते हैं—

हे त्रिनेत्र! नाथ! विना प्रलय समय के ही ब्रह्माण्ड के नाश की दशा होने पर देव तथा दैत्यों के ऊपर दया के वशीभूत होकर (सागर) जन्य हलाहल विष पचा जाने वाले भगवन्! आपके कण्ठ में जो विष की कालिमा है, वह क्या आपकी कण्ठ शोभा को नहीं बढ़ा रही है? अर्थात् छवि तो बढ़ा ही रही है। ठीक ही है अकाल में ही उपस्थित संसार नाश (जन्म के भय को नाश) बिना किसी कारण अपना व्यसन वना लेने में दक्ष आप जैसे उत्तम पुरुषों का दोष भी प्रशंसा के ही योग्य होता है ।।१४।।

हे त्रिनयन! समुद्र मन्थन से पैदा हुए कालकूट नामक गरल को पीने पर आपके गले में जो कालापन आ गया, वह कालापन क्या

कालिमा तव कण्ठे श्रियं शोभां न कुरुते किम्। अपि तु कुरुत एवेत्यर्थ । ननु भगवानतिशयितविशेषदर्शी महानर्थहेतुकं विषं किमिति पीतवानित्यत आह–अकाण्ड इति। अकाण्डेऽसमये ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयो विषोर्मिवेगात्सम्भावितस्तस्माच्चकिता भीता देवाऽसुरा। इन्द्रबलिप्रभृतयस्तेषु कृपा दया तया विधेयस्य वश्यस्य। अन्यस्यैतत्पाने सामर्थ्यं नास्तीति विश्वत्राणाय विषं स्वयमेव पीतवानित्यर्थः। ननु विषविकारात्कल्माषः कथं कण्ठे शोभां तनोतीत्यत आह—अहो—इत्यादि, अहो—आश्चर्ये। भुवनभयभङ्गव्यसनिन परमेश्वरस्य विकारोऽपि श्लाध्यः प्रशंसनीयः। भुवनस्य लोकस्य भयं त्रासस्तस्य भङ्गो निरन्वयनाशः स एव व्यसनं सर्वमन्यद्विहाय क्रियमाणत्वाद्व्यसनं तदस्यास्तीति तथा तस्य। तेन जगदुपकृतिकृत दूषणमपि भूषणमेवेत्यर्थः।

परिपक्षे तु हे त्रिनयन त्रयाणां लोकानां नयनवत् सर्वावभासक [1]"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्" इति श्रुतेः। अकाण्डेऽकाले ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयः दैनन्दिनप्रलयजलपूरवेगात् सम्भावितस्तस्माच्चकिता ये देवाऽसुराः स्वायम्भुवमनुप्रभृतयस्तद्विषयककृपावशीकृतस्य तव विषं जलं "विषं क्ष्वेडं विषं जलं" इत्यादिकोशात्। तच्च प्रलयकालीनं यज्ञवाराहरूपेणावगाह्य पङ्कीकृत्य संहृतवतः शोषितवतः पङ्कव्यामिश्रेण यः कल्माषो मलिनिमासीत्स कल्माषः स्तोतृभिर्वर्ण्यमानः अर्थात् स्तोतॄणां कण्ठे श्रियं शोभां न कुरुते इति न।

---

१. ऋक् स सं० मं० १। अ० ५। सू० २२।२०।

आपके कण्ठ को शोभित नहीं करता है। वस्तुतः शोभित करता ही है। शङ्का है कि भगवान् बहुत अधिक दूरदर्शी हैं महान् अनर्थ के कारण विष को क्यों पान किया? इसके उत्तर में कहते हैं—अकाण्ड इत्यादि से महाप्रलय के समय न आने पर ही ब्रह्माण्ड नाशरूप महाप्रलय का (दृश्य) विष की ज्वाला से उपस्थित हो गया था और उससे सभी देव-दैत्य इन्द्र बलि आदि भयभीत हो गये थे। उनके ऊपर आपकी दया हो गयी थी तथा उसी दया के आप वशीभूत हो गये थे। (उस समय भगवान् ने विष पान किया) उस विष के पान का सामर्थ्य दूसरे में नही था। इसलिए विश्व की रक्षा के लिए विष को भगवान् ने स्वयं पी लिया। शङ्का है कि विष के विकार करने से कालापन कण्ठ की शोभा क्यों बढ़ाता है? इस पर अहो इत्यादि से कहते हैं। अहो - आश्चर्य है भुवन भय भङ्ग व्यसनी परमेश्वर के विकार के लिए वह प्रशंसनीय है। भुवन-समस्त लोक के भय त्रास का बिना कारण के ही भङ्ग (नाश) का व्यसन है। क्योंकि और कार्य कलाप को छोड़कर जो किया जाता है वह व्यसन है, और वह जिसके हो वह भुवन भय भङ्गव्यसनी है। ऐसे भगवान् का जगत् कल्याण निमित्त दोष भी भूषण ही है यह आशय है।

विष्णु पक्ष में तो हे त्रिनयन! विष्णो! तीनों लोकों के नेत्र के समान सर्व अवभासक! यह अर्थ (तद्विष्णोः) "दिवलोक के समान विस्तृत चक्षु विद्वत्समुदाय विष्णु के उस परम पद को देखते हैं। इस श्रुति के अनुसार है। ब्रह्माण्ड का महाप्रलय दैनिक प्रलय जल के पूरे वेग से महाप्रलय की शंका से स्वयम्भू मनु आदि देवता तथा असुर चकित भयभीत हो गये। उनके ऊपर आप अपनी कृपा के वश होकर विष-जल (विष शब्द जल गरल का वाचक है कोष ग्रन्थों में) जो प्रलय के समय का था, उसे यज्ञ वाराह रूप से उसमें प्रवेश कर कीचड़ बनाकर सुखाते समय जो मैल लगी क्या स्तुति परायण जनों से वर्णन में (शोभा नहीं बढ़ाता) अर्थात् श्रोताजनों के कण्ठ की शोभा

अपि तु कुरुत एवेत्यर्थः। अर्थान्तरन्यासः पूर्ववत् ।।१४।।

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे,
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
सः पश्यन्नीशत्वामितरसुरसाधारणमभूत्,
स्मरः स्मर्तव्यात्मा नहि वशिषु पथ्यः परिभवः ।।१५।।

असिद्धार्था इति। हे ईश! यस्य स्मरस्य विशिखा बाणाः सदेवासुरनरे जगति देवासुरनरादिसहिते त्रैलोक्ये जयिन उत्सृष्टाः क्वचिदप्यसिद्धार्था अकृतकार्या न निवर्तन्ते अपि तु सिद्धार्था एव नित्यं जयिन एव भवन्ति। जयिन इति स्मरस्य वा विशेषणम्। नित्यं जयशीलस्येत्यर्थः स एतादृशपौरुषवानपि स्मरः यथान्ये देवा मम जय्यास्तथाऽयमपीतीतरसुरसाधारणमितरदेवतुल्यं त्वां पश्यन् स्मर्तव्यात्माभूत् स्मर्तव्यः स्मरणीय आत्मा शरीरं यस्य स तथा। नष्ट इत्यर्थः। पश्यन्निति हेतौ शतृप्रत्ययः। लक्षणे हेतौ च शतुः, स्मरणात्। "[1]तद्धैतत्पश्यन्नृषि र्वामदेवः प्रतिपदे" इतिवत्। तेनेतरदेवसाधारणत्वेन त्वद्दर्शनमेवाव्यवधानेन विनाशहेतुः का वार्ता परिभवादेरिति भावः। तत्र कैमुतिकन्यायमाह नहीत्यादि। हि यस्माद् वशिषु जितेन्द्रियेष्वन्येष्वपि परिभवस्तिरस्कारः पथ्यो हितो न भवति। स्वनाशायैव सम्पद्यत इति यावत्। किं पुनः परमवशिनां वरे परमेश्वरे त्वयीत्यर्थः।

---

१. बृहदारण्यक १।४।१०।

नहीं ऊढ़ाता यह बात नहीं है, शोभा करता ही है यह अर्थ है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार पहले के समान है ।।१४।।

हे ईश्वर! जिस विजयी कामदेव के बाण देव दानव नर समुदाय रूप जगत् में कहीं भी सदा निष्फल नहीं लौटते थे, वही स्मर आपको अन्य देवों के समान ही (अपने वश में लाने के लिए) समझने लगा तव तो उसी समय देखते ही स्मृति मात्र (भस्म) हो गया। उचित ही है कि वशीजनों के विषय में अवहेलना कल्याणकारी नहीं होती। अथवा वशीजनों में कामदेव समर्थ नहीं होता ।।१५।।

हे समस्त चराचर के शासक ईश्वर! जिस मन्थन के बाण देवता, दैत्य, मानव सहित त्रिलोक को जीतने में समर्थ थे तथा उसके बाण विना कार्य सिद्ध किये नहीं लौटते थे, किन्तु कार्य सिद्ध कर विजयी ही होते थे। "जयिनः" कामदेव का भी विशेषण हो सकता है। जिससे अर्थ होता है—सदा विजयशील (काम के वाण निष्फल नहीं जाते थे) इस प्रकार अतिशय पौरुष सम्पन्न होने पर भी कामदेव जिस भांति और सभी देवता मेरे द्वारा जीते जाने योग्य हैं, उसी भांति 'यह भी अन्य देवताओं के समान ही है' इस रूप में देखते ही स्मरण के योग्य रह गया। अर्थात् स्मृति मात्र का विषय हो गया, उसका नाश हो गया यह भाव है। 'पश्यन्' पद में हेतुरूप से शतृ प्रत्यय है। लक्षण तथा हेतु अर्थ में शतृ का स्मरण किया गया है, वामदेव ऋषि उस ब्रह्म के ज्ञान से सर्वज्ञ हो गये" इस श्रुति के समान। इससे अन्य देव के समान रूप में आपको देखना ही शीघ्र नाश का कारण हो गया। यदि अनादर आदि हो तो उसके विषय में वात ही क्या है। इसमें कैमुतिकन्याय 'नहि' इत्यादि आगे दिखाया है। क्योंकि परमेश्वर से अतिरिक्त भी जितेन्द्रिय व्यक्ति के विषय में तिरस्कार हितकर नहीं होता, स्वयं तिरस्कारकर्ता के नाश के लिए ही होता है। परमवशी परमेश्वर देवाधिदेव महादेव! आपके विषय में तो कहना ही क्या, यह भाव है।।

हरिपक्षे तु—हे इतरसुर! सर्वविलक्षण देव! पूर्वं स्मर्तव्यात्मा स्मृतोऽपि स्मरः कामस्त्वां पश्यन्नभूज् जातः। त्वत्सकाशाज्जात इत्यर्थः। पितैव खलु पुत्रं जातमात्रमवलोकयति, अतः पुत्रोऽपि तमेवावलोकयतीति पश्यन्नभूदित्यनेन जन्यजनकभावो लभ्यते। कथं जातः? साधारणं तव तुल्यरूपं यथा स्यात्तथा। "[१]आत्मा वै पुत्रनामासि" इति श्रुतेः। तत्किं सर्वांशेन भगवत्तुल्यः, तथा च "[२]न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः", "[३]न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते" इत्यादिश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य वैलक्षण्यमाह - नहीत्यादि। वशिषु जितेन्द्रियेषु हि यस्मात्स्मरो न पथ्यो न हितः। तत्र हेतुः परिभवः परिभवत्यनर्थे योजयतीति परिभवः कामः। स खलु सर्वेषां संसारबन्धहेतुः परमेश्वरस्तु सर्वेषां संसारबन्धस्यात्यन्तोच्छेदहेतुरिति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः। असिद्धार्था इत्यादि पूर्ववत् ।।१५।।

अथ जगद्रक्षणार्थे नर्तनावतरणे दर्शयन् हरिहरौ स्तौति—

महीं पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदम्,
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा,
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ।।१६।।

---

१. कौषीतकी २।११।
२. श्वेताश्वर ४।१९।
३. श्वेताश्वर ६।९।

हरि पक्ष में तो हे अन्य देव विलक्षण! सर्वदेवविलक्षण! पूर्व समय में स्मृति रूप में रहा हुआ कामदेव आपको देखते ही हुआ। आपके द्वारा हुआ यह अर्थ है। पैदा होने के अनन्तर पिता ही जन्मे हुए शिशु को देखता है। पुत्र भी पिता को ही प्रथम देखता है, अतः पश्यन्नभूत् से जन्य जनक भाव मिल रहा है। कैसा पैदा हुआ? आप के समान ही रूप वाला पैदा हुआ। "पुत्र नाम से (तुम) आत्मा ही हो इस श्रुति से जन्य जनक भाव सिद्ध है। तो फिर सभी अंश में (कामदेव) भगवान् के तुल्य हुआ, यदि ऐसा कहो तो जिस (परमात्मा के) प्रसिद्ध महा यश है उसका प्रतिरूप (प्रतिनिधि) नहीं है" उसके समान तथा अधिक (कोई) नहीं है" इत्यादि श्रुतियों के विरोध की शंका करके 'नहिं' इत्यादि से विलक्षणता बताते हैं—जितेन्द्रिय जनों में जिस कारण से स्मर हितकारी नहीं होता। कारण यह है कि—अनर्थ में लगावे वह परिभव है कामदेव। तथा वह काम सभी प्राणियों के संसार रूप बन्धन का कारण है। परमात्मा सभी के संसाररूप बन्धन के अत्यन्त नाश का कारण है। इस भांति (काम और परमात्मा में) बड़ी भारी विलक्षणता है असिद्धार्था इत्यादि पद योजना पूर्व के अनुसार है ।।१५।।

अब (१६वें श्लोक में) जगत् रक्षा के लिए नर्तन तथा जन्मग्रहण दिखाते हुए हरि और हर की स्तुति करते हैं—

हे ईश आपके पैरों के आघात से (ताण्डव के समय) पृथिवी एकाएक अनेक विध संशय में पहुँच जाती है, आकाश मण्डल घूमती हुई भुजा रूप परिध से ग्रह, नक्षत्र तथा तारों की व्याकुलता से (इधर-उधर विखरने से) व्याप्त है। बिखरी (खुली) हुई जटा के किनारे से चोट खाया हुआ स्वर्गलोक बार-बार दयनीय स्थिति (समाप्ति की दशा) में पहुँच जाता है। आप यद्यपि जगत् की रक्षा के लिए ही नर्तन करते हैं तो भी विभुता (ऐश्वर्य शालिता) उलटी हो जाती है। (सम्पत् शालियों का कार्य सही होने पर भी विक्षोभजनक होता ही है।) ।।१६।।

महीति। हे ईश! जगद्रक्षायै त्वं नटसि नृत्यसि। सन्ध्यायां जयन्ति जिघांसन्तं वरलब्धतत्कालवलं महाराक्षसं निजताण्डवेन मोहयसीत्यर्थः। त्वं तु जगतां रक्षायै नृत्यसि, जगन्ति तु त्वत्ताण्डवेन संशयितानि भवन्तीत्याह महीत्यादि। तव चरणाघातेन सहसा संशयपदं सङ्कटं मही व्रजति। तथा विष्णोः पदमन्तरीक्षं भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहणं भुजा एव परिघाः अतिसुवृत्तपीवरदृढदीर्घत्वात्तैर्भ्राम्यद्भिर्भुजारूपपरिधै रुग्णाः पीडिताः ग्रहगणा नक्षत्रसमूहा यत्र तत्तथा संशयपदं व्रजतीत्यर्थः। तथा द्यौः स्वर्लोकः अनिभृता असंवृता या जटास्ताभिस्ताडितं तटं प्रान्तदेशो यस्याः सा तथा मुहुर्दौस्थ्यं दुःस्थत्वं याति। एवं च क्रमेण त्रयाणां लोकनामपि संशयो दर्शितः। नन्वसौ सर्वज्ञोऽप्यपायमपर्यालोचयन्नेव किमेवंविधताण्डवे प्रवृत्त इत्यत आह न्विति। ननु अहो विभुता परममहत्ता, प्रभुतेति यावत्। वामैव प्रतिकूलैव। अनुकूलमाचरत्यपि किञ्चित्प्रतिकूलमवश्यमाचरतीत्येव शब्दार्थः। दृश्यते हि स्वल्पकेऽपि राजनि स्वदेशरक्षणाय सेनया सह सञ्चरति स्वदेशोपद्रवः, किमुत तादृशे महेश्वर इत्यर्थः।

हरिपक्षे तु—हे ईश! त्वं जगद्रक्षायै नटसि नटवदाचरसि। नटशब्दादाचारार्थे क्विपि प्रत्ययलोपे नटसीति रूपम्। मत्स्यादिभूमिकां व्रजसीत्यर्थः। कस्यामवस्थायां

हे ईश! आप जगत् की रक्षा के लिए ताण्डव नृत्य करते हैं। संध्याकाल में वर प्राप्ति के कारण वलवान् होकर हत्या परायण बड़े-बड़े राक्षसों को अपने ताण्डव नृत्य से मोहित कर लेते हैं, यह भाव है। जगत् की रक्षा के लिए आप तो नाचते हैं पर जगत् के प्राणी विनाश की आशङ्का में पड़ जाते हैं इसे महीत्यादि से कहते हैं—चरणों के उठाने और धरने के आघात से पृथिवी एकाएक नष्ट हो जाने के संशय में पड़ जाती है। तथा विष्णुपद आकाश मण्डल (भ्राम्यद् भुजपरिघ०) भुजाएँ ही परिघ (तेगा) हैं—अतिशय सुडौल, मोटी, दृढ़ तथा लम्वी होने से, घूमती हुई परिघा के समान भुजाओं से नक्षत्रगण व्यथित हो गये हैं जिससे इस रूप में संशय ग्रस्त हो जाता है यह भाव है। एवं स्वर्ग लोक भी खुली बिखरी जटाओं के किसी किनारे से चोट खाकर बार-वार बड़ी दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। इस वर्णन क्रम से तीनों के सम्बन्ध में संशय दिखाया गया। शङ्का—भगवान् शिव सर्वत्र होते हुए भी 'जगत् नष्ट होगा' इस अनर्थ को विना विचारे क्यों ऐसे बेढङ्गे ताण्डव नृत्य में प्रवृत्त होते हैं? इस पर ननु इत्यादि से कहते हैं। आश्चर्य है महत्ता-प्रभुता कभी-कभी वामा-विपरीत ही हुआ करती है। अच्छा करते हुए भी कुछ उलटा अवश्य हो जाता है। यह "एव" शव्द का अर्थ है। जैसे देखा जाता है छोटे छोटे राजा के भी अपने देश की रक्षा के लिए सेना के साथ प्रस्थान (गमन) करने पर अपने देश में उपद्रव जैसा हो जाता है। ऐसे विलक्षण जगदीश्वर के विषय में तो कहना ही क्या।

विष्णु पक्ष में तो हे ईश! आप जगत् की रक्षा के लिए नट के समान आचरण करते हैं। नट शब्द से आचरणार्थ में क्विप् प्रत्यय और उस प्रत्यय का लोप होने पर नटसि यह रूप बना। अर्थात् मत्स्य आदि (अवतार रूप) भूमिका में जाते हो। किस अवस्था में जगत् की रक्षा

जगद्रक्षणाद्यर्थमवतरणमित्युच्यते महीपादित्यादि। महीं पातीति महीपो राजा तस्मादाघातात्सा मही सह समकालमेव संशयपदं व्रजति। आसमन्ताद्धातो नाशोऽस्मादित्याघातो हिंस्रः। तथा च यदैव हिंस्रस्य राज्यं तदैव सङ्कटं व्रजतीत्यर्थः। तथा च विष्णोः पदमधिष्ठानं यत्र भगवान् विष्णुः स्वविभूतिभिः सह पूज्यते तद्विष्णोः पदं देवयजनाख्यं यज्ञशालादि। तत्कीदृशम्? भ्राम्यद्भिर्भुजस्थपरिधैर्भुजरूपपरिधैर्वा रुग्णो भग्नो ग्रहगणः सवित्रादिरूपः सोमपात्रसमूहो यत्र तत्तथा यागादिशुभकर्माणि यदा ध्वस्यन्ते तदेत्यर्थः। तथा द्यौर्दौस्थ्यं याति। अनिभृतजटाः पाषण्डव्रतचिह्नभूतास्ताभिराताडितम् अभावमिव गमितं तटं तुङ्गं पदं सत्यलोकाख्यं यस्याः सा तथा। पाखण्डिभिर्हि वैकुण्ठलोकोऽपि नाङ्गीक्रियते किं पुनरिन्द्रादिलोक इत्यर्थः। यदा चैवं तदा त्वं नटवदाचरसीत्यर्थः। तथा च भगवद्वचनं गीतासु—"[1]यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थामधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। इति। श्री भागवते च"—"[2]यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः, पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः स्वाहास्वधावषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते।।" इत्यादि।

नन्विच्छामात्रेणैव जगन्ति रक्षितुं क्षमोऽपि किं मत्स्यादिरूपैः क्लिश्यतीत्यत आह नन्वित्यादि। ननु निश्चितं विभुता विभववत्ता। सम्पन्नतेति यावत् वामैव वक्रैव। सत्यप्यृजौ प्रकारे वक्रेणैव प्रकारेण

---

१. (गीता ४।०।)

२. (भागवत २।७।३८।)

आदि के लिए अवतार ग्रहण है यह महीपादा० आदि से कहते हैं। पृथिवी पालक राजा के आघात से वह पृथिवी उसी आघात के समय में ही संशयापन्न अवस्था को पहुंच जाती है। जिस राजा से चारों ओर नाश उपस्थित हो वह आघात है, हिंसक है। इससे यह भाव है कि— जिस समय हिंसक राजा का राज्य होता है, उसी समय (धरा) संकट में पहुंचती है। साथ ही साथ विष्णु का स्थान देवयजन (यज्ञ शाला) आदि (भी संशय में पड़ जाते हैं) किस प्रकार यज्ञशाला आदि? घूमते हुए भुजा में स्थित परिघों में अथवा परिघ सदृश भुजाओं से टूटे फूटे हैं ग्रह (सूर्य आदि व्रत, अथवा सोम रसादि के पात्र समुदाय) जिसमें, ऐसा याग आदि शुभकर्म जिस समय ध्वस्त किये जाते हैं उस समय यह भाव है। इसी प्रकार स्वर्गलोक दुरवस्था में पहुँच जाता है। फैली हुई जटाएँ पाखण्डपूर्ण व्रतों के चिह्न हैं उनके द्वारा चारों ओर से ताडित अभाव में पहुँचा दिये गये हैं, सत्यलोक नामक उच्च स्थान जिससे इस प्रकार की जटाएँ हैं। अर्थात् पाखण्डी लोग तो वैकुण्ठ लोक भी नहीं मानते फिर इन्द्र आदि लोक क्या है? जब ऐसी अवस्था होती है तब आप नट के समान आचरण करते हैं। इस विषय में भागवद्गीता में भगवान् के वाक्य हैं "हे भारत! अर्जुन! जब जब धर्म लोप हो जाता है, और अधर्म बढ़ जाता है, उस समय मैं अपना रूप धारण करता हूँ।" इस प्रकार तथा श्री भागवत में भी "जिस समय सज्जनों के भी भवनों में भगवत्कथा न हो सकेगी, देवार्थ स्वाहा, पितरों के लिए स्वधा, आत्मार्थ वषट् आदि वाणी का लोप हो जाएगा। द्विजजन पाखण्डी हो जायेंगे और राजागण शूद्र प्रायः हो जाएँगे उस समय कलियुग के अन्त में भगवान् दण्ड दाता होंगे।" इत्यादि। शङ्का है कि—केवल इच्छा मात्र से ही समस्त जगत् की रक्षा में समर्थ होते हुए भी भगवान् क्यों मत्स्य आदि रूप धरकर क्लेश उठाते हैं? अतः ननु

स्वसम्पत्तिं सफलयितुं सम्पन्नः कार्यं करोतीत्यर्थः। तेनाष्टविधमैश्वर्यमौत्पत्तिकं दर्शयन्भक्तानाभिध्यानाय तानि तानि श्रवणमनोहराणि चरितानि तेन तेनावतारेण धत्ते भगवानिति भावः ।।१६।।

अथ गङ्गाया उद्धरणधारणे दर्शयन् हरिहरौ स्तौति—

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः,
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि,-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ।।१७।।

वियदिति।—हे ईश! अनेनैव लिङ्गेन तव दिव्यं दिवि भवं सर्वदेवनियन्तुः वपुः शरीरे धृतमहिम सर्वेभ्यो महत्तरम्- उन्नेयमूहनीयम्। तव वपुषः सर्वमहत्तरत्वमेतावतापि निश्चेतुं शक्यं किमिति प्रमाणान्तरमापेक्षितव्यमिति-एवकारार्थः। इतिशब्दः प्रकारार्थे। एवं प्रकारेण लिङ्गेनेत्यर्थः। तमेव प्रकारं दर्शयति वियदित्यादि। वियदाकाशं व्याप्नोत्याच्छादयतीति तथा तारागणेन नक्षत्रवृन्देन स्वान्तःपातिना गुणिता शुभ्रत्वादि-गुणसजातीयत्वद्वर्धिता फेनोद्गमरुचिर्यस्य स तथा एतादृदशो वारां प्रवाहः स तव शिरसि पृषतलधुदृष्टः पृषताद् बिन्दोरपि लघुरल्पतरः पृषतलघुः स इव दृष्ट आलोकितः। तेन तु वारां प्रवाहेण जलधिवलयं जगद्द्वीपाकारं कृतं जलधीनां वृन्दं जगद्भूलोको द्वीपाकारं जम्बूद्वीपादिसप्तकरूपं यस्मिंस्तत्तथा विहितम्। "अगस्त्येन हि सप्तसु समुद्रेषु पीतेषु

इत्यादि से कहते हैं—यह निश्चित है कि सम्पत्ति शालिता वक्र टेढ़ी ही होती है। सम्पन्न लोग सरल रीति के होते हुए भी अपनी सम्पत्ति की सफलता के लिए टेढ़े ढंग से कार्य किया करते हैं यह भाव है। इससे आठ प्रकार की सिद्धियों को "जो स्वाभाविक है" दिखाते हुए भक्तों के चिन्तन के लिए अनेक विध श्रवण एवं मनन के लिए प्रिय चरितों को विविध अवतारों से भगवान् रचा करते हैं यह भाव है ।।१६।।

अब गङ्गा की उत्पत्ति तथा गङ्गा का धारण दिखाते हुए हरि एवं हर की स्तुति करते हैं—

समस्त आकाश में फैले हुए तारागणों के समान फेन की शोभा से युक्त जो जल का प्रवाह है, वह आपके सिर पर जल बिन्दु के समान देखा गया और उस जल बिन्दु ने (सिर से निकलने पर) सारी पृथिवी को समुद्र रूप करधनी बनकर द्वीप वना दिया। बस इतने से ही महिमा युक्त दिव्य देह समझा जाना चाहिए ।।१७।।

हे ईश! बस इसी चिह्न से दिव्य तथा सब देवों का नियन्त्रक शरीर अतिशय महिमा युक्त सभी देहों की अपेक्षा महान् से भी महान् समझने योग्य है। आपके शरीर की सवसे वड़ी महत्ता केवल इतने मात्र निश्चय के योग्य है, इस विषय में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं है यह "एव" पद का अर्थ है। तथा "इति" शब्द का प्रकार अर्थ है। अर्थात् इस प्रकार के चिह्न से, यह तात्पर्य हुआ। उसी प्रकार (वैशिष्ट्य) को वियदादि से दिखाया है। आकाश आदि को आच्छादित करता हुआ, अपने भीतर रहते हुए नक्षत्र वृन्द से चमचमाहट के कारण जिसमें फेन की उत्पत्ति की छटा हो ऐसा विलक्षण जल प्रवाह है, और वह जल प्रवाह छोटे से जल कण के समान आपके सिर में देखा गया। परन्तु उसी जल प्रवाह ने सागर का रूप मेखला से घेर कर जगत् को द्वीप के आकार में वना दिया। समुद्रों के समुदाय से पृथिवी लोक जम्बूद्वीप आदि सात लोक (विभाग) में वना दिया गया। "अगस्त्य ऋषि से सातों समुद्रों के पिए जाने के अनन्तर फिर भगीरथ के द्वारा लाई गई

पुनर्भगीरथानीतगङ्गाप्रवाहेणैव तेषां पूरणं जातम्'' इति पुराणप्रसिद्धम्। तथा च यो जलराशिस्तव शिरसि बिन्दोरप्यल्पो दृष्टः स एवात्र क्रियान्मन्दाकिनी नाम्ना वियद्व्याप्यास्ते, कियान्भागीरिथीति गङ्गेति च प्रसिद्धो भूलोके सप्तसमुद्रानापूर्यास्ते, कियांस्तु भोगवतीति संज्ञया पातालमभिव्याप्यास्ते इत्यनेन तव दिव्यवपुषो महत्त्वमनुमीयत इत्यर्थः।

हरिपक्षे तु तारागणैर्गुणिताः फेना यस्याः सा तारागण-गुणितफेना गङ्गा तस्या उद्गमे उद्भवे रुचिः शोभा यस्य स तथा शिरसि सर्वलोकानां शिरस्थानीये ब्रह्मलोके बलिच्छलनोत्क्षिप्तचरणाङ्गुष्ठनिर्भिन्नब्रह्माण्डविवरादागतो गङ्गोत्पत्तिहेतुवियद्व्यापको यो वारां प्रवाहः स ते त्वया पृषतलघुदृष्टः विन्दोरपि लघुदृष्टः बिन्दोरपि लघु यथास्यात्तथोपलब्ध इत्यर्थः। अनेनैव लिङ्गेन च तव दिव्यं वपुः वलिच्छलनार्थं दिव्याकाशे आविर्भावितं त्रैविक्रमं रूपं धृतमहिमोनेयम्। शेषं पूर्ववत् ।।१७।।

अथ लङ्कात्रिपुरदाहौ दर्शयन् हरिहरौ स्तौति—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो,
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ।।१८।।

गङ्गा के प्रवाह से ही वे समुद्र भर गए" यह "कथा" पुराण प्रसिद्ध है। और भी जो जल राशि आप के सिर में बून्द से भी छोटा देखा गया, वही यहां प्रकृत में कुछ तो मन्दाकिनी नाम से आकाश को व्याप्त करके है, कुछ भागीरथी गङ्गा नाम से प्रसिद्ध होकर पृथिवी मण्डल में सातों समुद्रों को भर कर स्थित है, तथा कुछ तो भोगवती इस नाम से (प्रसिद्ध हो) पाताल को व्याप्त करके है, वस इससे ही आपके दिव्य देह का महात्म्य का अनुमान किया जाता है यह भाव है।

विष्णु पक्ष में तो तारागणों से बढ़े हुए फेन जिसके भीतर हैं, ऐसी विलक्षण गङ्गा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शोभा युक्त एवं सम्पूर्ण लोकों के सिर रूप ब्रह्म लोक में बलि के छलने के लिए उठाये गये चरण के अंगूठे से विदीर्ण ब्रह्माण्ड के छिद्र से आया हुआ, गङ्गा की उत्पत्ति के कारण रूप, जगत् को व्याप्त करने वाला, जो जल प्रवाह था, वह आपके द्वारा साधारण जलबिन्दु से भी छोटा देखा गया यह अर्थ है। केवल इसी एक चिह्न से आपका दिव्य देह, जो बलि के छलने के लिए द्युलोक आकाश में आपने प्रकट किया था, वह त्रिविक्रमरूप महिमा युक्त जाना जा सकता है। शेष पद योजना पूर्व के समान है ।।१७।।

अब लंका तथा त्रिपुर का दाह दिखाते हुए हरि एवं हर की स्तुति करते हैं—

हे ईश! तृण के समान त्रिपुरासुर को भस्म करने की इच्छा होने पर पृथिवी को रथ, ब्रह्मा को सारथी, पर्वतराजसुमेरु को धनुष, चन्द्र और सूर्य को रथ के दोनों चक्के और चक्रपाणि भगवान् विष्णु को बाण बनाना, यह सब समारम्भ करने का क्या प्रयोजन था? सही देखा जाय तो सर्व समर्थ आपके लिए इतने आडम्बर की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। हां यह अवश्य है कि अपने हाथ में स्थित खिलौने से खेलती हुई समर्थ जनों की बुद्धियाँ (खेल में) किसी के अधीन नहीं हुआ करतीं। वे अपने खिलौने से जैसा चाहें खेलें ।।१८।।

रथ इति। हे ईश त्रिपुरतृणं दिधक्षोस्तव कोऽयमाडम्बरविधिः। त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं तदेव तृणम् अनायासनाश्यत्वात् तद्दग्धुमिच्छोस्तव कोऽयं महत्प्रयोजनमुद्दिश्येव सम्भ्रमरचना। नहि लौकिका अपि नखच्छेद्ये कुठारं परिगृहणन्ति, अतस्तवात्यल्पे प्रयोजने न महान्प्रयास उचित इत्यर्थः। आडम्बरविधिमेव दर्शयति रथ इत्यादि। क्षोणी पृथिवी रथरूपेण परिणता, शतधृतिर्ब्रह्मा यन्ता सारथिः, अगेन्द्रः पर्वतश्रेष्ठो मेरुः धनुः कोदण्डम्, सोमसूर्यौ द्वे चक्रे, रथचरणं चक्रं तद्युक्तपाणिविष्णुः शरो बाणः चतुर्थवाक्ये श्रुतोऽप्यथोशव्दः सर्वत्र वाक्यभेदाय योजनीयः। इति शब्दः प्रकारार्थः। त्रिभुवनमपीच्छामात्रेण संहरतस्तवैवंप्रकारेण सामग्रीसम्पदानमाडम्बरमात्रमित्यर्थः। एवमाक्षिप्य परिहारमाह विधेयैरित्यादि। खलु निश्चितं प्रभोरीश्वरस्य धियो वुद्धयः सङ्कल्पविशेपाः परतन्त्राः पराधीना न भवन्ति, अपि तु स्वतन्त्रा एव। ताः कीदृश्यः? विधेयैः स्वाधीनैः पदार्थैः क्रीडन्त्यः खेलन्त्यः। नहि क्रीडायां प्रयोजनाद्यपेक्षास्ति। तस्माद्विचित्राणि वस्तूनि स्वाधीनतया क्रीडासाधनीकृत्य क्रीडतस्तव सर्वाणि कार्याणि स्वेच्छामात्रेण कर्तुं क्षमस्य लौकिकवैदिकनियमानधीनवुद्धेर्न किञ्चिदप्यनुचितमित्यर्थः।

हरिपक्षे तु—त्रीणि त्रिकूटगिरिशिखराणि पुराण्याश्रयो यस्यंति त्रिपुरं लङ्कापुरं तदेव तृणं दग्धुमिच्छोस्तव कोऽयं श्रीरामरूपेण सुग्रीवसख्यसमुद्रवन्धनादिश्चाडम्बरविधिः।

हे सर्वसमर्थ ईश! त्रिपुरासुरतृण को भस्म करने के इच्छुक आप का यह विशेष आडम्बर किस लिए? तीनपुरों का सम्मेलन त्रिपुर है और तृण समान है तथा वह बिना परिश्रम के नष्ट (भस्म) किये जाने योग्य होने से, उसे भस्म करने के इच्छुक आपके लिए वड़े प्रयोजन के निमित्त तैयारी के समान यह वड़ा उद्योग किस काम का। साधारण लौकिक जन भी नख काटने के लिए कुल्हाड़ी तो नहीं लेते हैं, अतः छोटे से कार्य के लिए वड़ा प्रयास करना आपका उचित नहीं है। आगे उसी आडम्बर रचना को दिखाते हैं "रथ" इत्यादि से—पृथिवी रथ वनाई गई, विधाता-व्रह्मा रथवाह-सारथी वना, श्रेष्ठ पर्वत सुमेरु धनुष (चाप) चन्द्र और सूर्य रथ के दोनों चक्के, रथचरण युक्त चक्रपाणि विष्णु वाण वने। चौथे वाक्य में आया "अथो" शव्द सभी वाक्यों में वाक्य की भिन्नता सिद्ध होने के लिए जोड़ना चाहिए, इति शव्द विशेषता के लिए। केवल इच्छा मात्र से ही तीनों लोकों के संहारक आपका इस प्रकार युद्ध सामग्री एकत्र करना आडम्बर ही तो है, यह अर्थ है। इस प्रकार आक्षेप करके समाधान करते हैं "विधेयै" इत्यादि से। यह निश्चित है कि समर्थ की बुद्धियाँ (विशेष संकल्प) किसी के आधीन नहीं होती हैं। यों तो सही रूप में स्वतन्त्र ही हुआ करती हैं। वे इच्छा युक्त बुद्धियाँ कैसी हैं? अपने अधीन (खिलौने के समान) वस्तुओं से खेलती हुई हैं। खेलने में तो किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं होती। अतएव विभिन्न विचित्र अनेक वस्तुओं को अपने अधीन करके खेलने में परायण आपकी केवल इच्छा मात्र से सम्पूर्ण कार्य क्षमता होते हुए लौकिक अथवा वैदिक नियम के अधीन न होने वाली वुद्धि युक्त आपके लिए कोई भी आयोजन अनुचित नहीं है।

विष्णु पक्ष में तो तीन त्रिकूट पर्वत शिखर के आश्रित पुर लंका ही तृण के समान है, उसे भस्म करने के इच्छुक आपके लिए श्रीरामावतार, सुग्रीव मैत्री तथा समुद्र पर सेतु बांधना आदि यह सभी

रथः क्षोणीत्यादिरूपकम्। क्षोणीव रथः, शतधृतिरिव यन्ता, अगेन्द्र इव धनुः, चन्द्रार्काविव रथचक्रे, रथचरणपाणिरिव शरः, स्वतुल्यवीर्यो वाण इत्यर्थः। क्षोण्यादिसदृशरथाद्यु पादानमतादृशात्यल्पप्रयोजनायापेक्षितमुचितं न भवतीत्यर्थः। शेषः पूर्ववत् ।।१८।।

अथेन्द्रोपेन्द्रयोर्भक्तिं तत्फलं च दर्शयन् हरिहरौ स्तौति—

हरिस्ते साहस्त्रं कमलबलिमाधाय पदयो—
यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा,
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ।।१९।।

हरिरिति—हे त्रिपुरहर! हरिर्विष्णुस्तव पादयोः सहस्त्रं सहस्त्रसंख्यापरिमाणं कमलानां पद्मानां बलिमुपहारम्। सहस्त्रकमलात्मकं बलिमित्यर्थः। आधाय समर्प्य तस्मिन् कमलसहस्त्रावेलाकने सति एकेन कमलेन भक्तिपरिक्षार्थं त्वया गोपितेन हीने सति नियमभङ्गो माभूदिति तत्पूरणार्थं तदा कमलान्तरमलभमानो निजमात्मीयं नेत्रकमलमेवोदहरदुत्पाटितवान्। यदैवं स्वनेत्रोत्पाटनरूपं भजनम्, असौ भक्त्युद्रेकः भक्तेः सेवाया अत्यन्तप्रकर्षः चक्रवपुषा सुदर्शनरूपेण परिणतिं गतः त्रयाणां जगतां रक्षायै जागर्ति। परिपालनार्थं सावधान एव वर्तत इत्यर्थः एवमाख्यायिका च पुराणप्रसिद्धा। तथा चैवंविधाचिन्त्यमाहात्म्यस्त्वमसीति भावः।

हरिपक्षे तु—त्रिपुरहरेति प्राग्व्याख्यातम्। हरिरिन्द्रस्तव पादयोः सहस्त्रं कमलबलिमाधाय। कीदृशं नेत्रकमलं नेत्राण्येव कमलानि

आडम्बर किस काम का? आगे "रथःक्षोणी" आदि रूपकालंकार है, जैसे पृथ्वी के समान रथ, ब्रह्मा सदृश सारथी, सुमेरु के समान धनुष, चन्द्र और सूर्य के समान वलशाली बाण यह रूपक है, पृथ्वी आदि के समान रथ आदि साधन समारम्भ साधारण तुच्छ कार्य के लिए अपेक्षा करना उचित नहीं है। इतनी तैयारी का प्रयोजन नहीं है। यह अर्थ है। शेष पद व्याख्या पहले जैसी है ।।१८।।

अब इन्द्र तथा उपेन्द्र की भक्ति एवं उस भक्ति का फल दिखाते हुए विष्णु तथा शिव की स्तुति करते हैं—

हे त्रिपुरहर! भगवान् विष्णु आपके चरणों में एक हजार कमल पुष्पों का उपहार चढ़ाने को उद्यत हुए। उन पुष्पों में एक के घट जाने पर अपने नेत्रकमल को उखाड़कर चढ़ाया, वस यही भक्ति का वेग सुदर्शन बन गया तथा तीनों लोकों की रक्षा के लिए सदा जागरुक रहता है ।।१९।।

हे त्रिपुरहर! भगवान् विष्णु आपके चरणों (की पूजा के लिए) गिने हुए एक हजार कमलों का उपहार अर्थात् कमलों को भेंट में रखकर उनमें जब दृष्टि देकर (हजार कमल देखने पर) उनमें एक कमल कम हो जाने पर। क्योंकि भक्ति परीक्षा के लिए आपने एक कमल छिपा दिया। नियम भङ्ग न हो जाये इस कारण से उन पुष्पों को पूरा करने के लिए कोई दूसरा कमल मिलता न देख, अपने नेत्र-कमल को ही उखाड़ा। जब ऐसा अपना नेत्र उखाड़ना रूप भजन (सेवा) बन पड़ी तो यही भक्ति का पूर अर्थात् भक्ति सेवा का आधिक्य सुदर्शन चक्र रूप में परिणत हो गया जो तीनों लोकों की रक्षा के लिए सदा सावधान ही रहता है यह अर्थ है। इस प्रकार की आख्यायिका पुराणों से प्रसिद्ध है। भाव यह है कि इस भांति अचिन्त्य महिमायुक्त आप हैं।

हरिपक्ष में तो—त्रिपुरहर पद की पहले व्याख्या कर चुके। हरि (इन्द्र) देवता आपके चरणों में हजार कमल बलि के निमित्त धारण

यस्मिन्स तथा नेत्रसहस्त्रात्मकं कमलसहस्त्रबलिमित्यर्थः। युगपन्नेत्रसहस्त्रव्यापारेण त्वच्चरणयोर्दर्शनरूपमाराधनं कृत्वेत्यर्थः। आराधनप्रयोजनमाह—निजमात्मानमेकः सहायान्तरशून्यः। अनेन तस्मिन्नेतल्लोकविलक्षणे स्वर्लोके उदहरदुद्धृतवान् स्वर्लोकाधिपतिमात्मानं कृतवानित्यर्थः। निजमुद्धर्तुं युगपन्नेत्रसहस्त्रेण त्वच्चरणावलोकने यत्प्रवणत्वम् असौ भक्त्युद्रेकः चक्रवपुषा चक्रं सैन्यम् ऐरावतोच्चैश्रवः प्रभृति तद्रूपेण परिणतिं गतः परिणतः समुद्रमथनेन लक्ष्मीपीयूषादिप्रादुर्भावात्। त्रयाणां लोकानां रक्षायै जागर्तीत्यादि पूर्ववत् ।।१९।।

एवं पूर्वश्लोकेषु परमेश्वराराधनादेव सर्वपुरुषार्थप्राप्ति रन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्ता। तत्र केचिन्मीमांसकम्मन्याः परमेश्वर-निरपेक्षाः कर्मजनितादपूर्वादेव शुभाशुभप्राप्तिरित्याहुस्तान्निरा-कुर्वन् हरिहरौ स्तौति—

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्वमसि फलयोगे क्रतुमतां,
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलाति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं,
श्रुतौ श्रद्धां वद्ध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः ।।२०।।

क्रताविति । हे त्रिपुरहरेति सम्बोधनं पूर्वश्लोकादनुषज्यते।

कर, कैसी बलि? नेत्र कमल—नेत्र ही कमल है जिस बलि में भाव यह है कि हजार नेत्ररूप कमलों की बलि। अर्थात्—एक साथ हजार नेत्रों के व्यापार से आपके चरण कमलों का दर्शनात्मक आराधन करके। आगे आराधना का फल बताया है—अपने आपको अकेले ही अन्य की सहायता से रहित हो इस आराधना से इस लोक से विलक्षण स्वर्गलोक में उठा लिया। आशय यह है कि अपने को (इन्द्र ने) स्वर्ग लोक का स्वामी बनाया। अपने उद्धार के लिए एक साथ हजार नेत्रों से आपके चरणों के देखने में जो तत्परता रही वह भक्ति का वेग चक्रदेह से चक्र यहां सेना है ऐरावत हाथी उच्चैश्रवा घोड़ा आदि वेष में बदल गया, समुद्र मथने से लक्ष्मी अमृत आदि के उत्पन्न होने से। तीनों लोकों की रक्षा के लिए (वह चक्र) जागता है इत्यादि पद पूर्व प्रकरण के समान हैं ।।१९।।

पहले के श्लोकों में परमात्मा की आराधना से ही समस्त पुरुषार्थ लाभ अन्वय व्यतिरेक द्वारा कहा गया। उस पुरुषार्थ के विषय में कुछ अपने को मीमांसक मानने वाले बिना परमेश्वर के ही कर्मजन्य अपूर्व पुण्य पाप (धर्म) से ही इष्ट एवं अनिष्ट फल प्राप्ति होती है। ऐसा कहते हैं। उनका खण्डन करते हुए हरि और हर की स्तुति करते हैं—

हे त्रिपुरहर! यज्ञ आदि शुभकर्म परायण पुण्य शालियों के याग कर्म समाप्त हो जाने पर यजमान का यज्ञ फल से सम्बन्ध करने के लिए आप सदा जागते रहते हैं। क्योंकि कर्म तो करने के बाद नष्ट हो जाता है और कर्मजन्य अपूर्व जड़ है। अतः चेतन परमेश्वर की आराधना के विना कहीं किसी भी देशकाल में (नष्ट कर्म) फल देने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसी से कर्मों के फल देने में साक्षी या न्यायाधीश समझकर सुकृतिजन वेद वाक्यों में विश्वास और श्रद्धा वांधकर कर्म में तत्पर रहने के लिए कटिबद्ध (तैयारी में लगे) रहते हैं ।।२०।।

हे त्रिपुरहर! यह सम्बोधन शब्द १९वें श्लोक से सम्बद्ध है।

क्रतौ यागादिकर्मणि आशुतरविनाशिस्वभावत्वात् सुप्ते लीने स्वकारणे सूक्ष्मरूपतां प्राप्ते ध्वस्ते सति। क्रतुमतां यागादिकर्मकारिणां कालान्तरदेशान्तरभावितत्तत्फलसम्बन्धे तन्निमित्तं त्वं जाग्रदसि प्रबुद्ध एव वर्तसे। वर्तमाने विहितेन शत्रा जागरणस्य सर्वदास्तित्वमुच्यते। तेन सर्वदैवावहितोऽसीत्यर्थः। ननु लिङादिपदवाच्यक्रियायाः स्वर्गादिसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमपूर्वमेव फलयोगाय जागर्ति किमीश्वरेणेत्यत आह क्वेत्यादि। प्रध्वस्तं विनष्टं कर्म पुरुषस्य चेतनस्य फलदातुराराधनं बिना क्व फलति। न क्वापीत्यर्थः नहि लोके कुत्रापि विनष्टस्य कर्मणोऽपूर्वद्वारा फलजनकत्वं दृष्टम्। लोकानुसारणी च वेदेऽपि कल्पना लोकवदधिकरणन्यायात्। चेतनस्य तु राजादेराराधितस्य विनैवापूर्वं सेवादेः फलजनकत्वं दृश्यते। तत्र लोकदृष्टप्रकारेणैव वैदिककर्मणामपि फलजनकत्वसम्भवे न लोकविरुद्धापूर्वफल-दातृत्वकल्पनावकाशः। अपूर्वं हि लोकसिद्धकारणान्तरनिरपेक्षं वा स्वर्गादिफलं जनयेत्तत्सापेक्षं वा। आद्ये तत्फलोपभोगयोग्य-देहेन्द्रियादिकमपि नापेक्षेत। न चैतदिष्टम्, सर्वस्यापि सुखदुःखादेः, शरीरसंयुक्तात्ममनोयोगादि-दृष्टकारणजन्यत्वाभ्युपगमात्।

यज्ञ–दान आदि तत्काल नष्ट स्वभाव है। ऐसा उनका स्वभाव होने से जब यज्ञ आदि लुप्त हो जाते हैं अर्थात् सूक्ष्म हो जाते हैं, ध्वस्त हो जाते हैं। उस समय भी यज्ञ कर्मा पुण्यशील जनों के अन्य देश एवं काल में होने वाले उन उन फलों के सम्बन्ध में (यजमान को फल प्राप्ति में) कारण बने हुए आप सावधान हो जागते रहते हैं। वर्तमान कालिक शतृ प्रत्यय होने से भगवज्जागरण की स्थिति सदा से प्रतिपादित हो रही है। इससे यह अर्थ हुआ कि सर्वदा भी भगवान् सावधान रहते हैं। शङ्का है कि लिङ्ग आदि प्रत्यय विशिष्ट यजेत् क्रिया स्वर्ग साधनत्व बोधक है परन्तु क्रिया समाप्ति पर स्वर्ग नहीं देखा जाता अतः क्रिया के अनन्तर स्वर्ग फल जनक अपूर्व की कल्पना करनी चाहिए, वह ही अपूर्व फल देने के लिए जागता रहता है। ईश्वर से क्या प्रयोजन? इस पर 'क्व' इत्यादि से समाधान करते हैं। कर्म तो उत्तरकाल में नष्ट हो जाता है। अतः फल दाता चेतन पुरुष की आराधना भी कर्म फल कैसे कहां दे सकती है। अर्थात् कभी कहीं भी नहीं दे सकती। लोक में कहीं भी समाप्त हुए कर्म से अपूर्व उत्पन्न होकर फल पैदा करता नहीं देखा गया। वेद में भी लोक के अनुसार कल्पना है, यह लोकवदधिकरण न्याय से सिद्ध है। अपूर्व जड़ से भिन्न सेवा द्वारा प्रसन्न हुए राजा आदि से, विना अपूर्व के उत्पन्न हुए ही, सेवादि फल पैदा करता हुआ देखा जाता है। वैदिककर्मों में भी लोकसिद्ध रीति से फलोत्पादकता सम्भव है, अतः लोक विरुद्ध अपूर्व फल दाता है। ऐसी व्यर्थ की कल्पना को अवसर नहीं है। यदि अपूर्व मानें भी तो कैसे? क्या अपूर्व लोकसिद्ध अन्य कारण की अपेक्षा बिना किये ही स्वर्गादि फल पैदा करेगा? अथवा अन्य साधन की अपेक्षा से? यदि प्रथम पक्ष मानें तो उन फलों के उपभोग योग्य देह–इन्द्रिय आदि की भी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। पर यह मान नहीं सकते। सभी वादियों का सुख दुःख आदि भोग के प्रति शरीर संयुक्त मनःसमाधान आदि प्रत्यक्ष कारण से उत्पादकता स्वीकृत है।

द्वितीये तु लोकसिद्धदेहेन्द्रियाद्य-पेक्षावदीश्वरापेक्षापि नियता, लोके तथा दर्शनात्। तस्माच्छ्रुतिन्यायसिद्धेश्वरपदार्थधर्मिबाधकल्पनाद्वरमपूर्वपदार्थस्य नैरपेक्ष्य-धर्ममात्रबाधकल्पनम्। "[१]फलमत उपपत्तेः" इति न्यायात्। इदं चापूर्वमभ्युपेत्य तत्सापेक्षत्वमीश्वरस्योक्तम् वस्तुतस्तु नापूर्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। लिङादीनामिष्टाभ्युपायतावाचकत्वात्। तदन्यथानुपपत्तेश्च श्रुतिन्यायसहस्रसिद्धपरमेश्वरेणैवोपक्षयात् नापूर्वसिद्धिः। अपूर्वं च तत्फलदातृत्वञ्च द्वयं भवद्भिः कल्प्यम्। अस्माभिस्तु केवलमीश्वरः कल्प्यः। तस्य फलदातृत्वादिकं तु चेतनत्वाद्राजादिवल्लोकसिद्धमेव। सर्वज्ञत्वेन च तत्तत्कर्मानुरूपफलदातृत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषप्रसङ्गः। यत एवं त्वमेव सर्वकर्मफलदाताऽतस्त्वां क्रतुषु श्रौतस्मार्तकर्मसु कालान्तरफलसाधनेषु फलदानप्रतिभुवं फलदानाय लग्नकमिव सम्प्रेक्ष्य सम्यक् श्रुति-स्मृतिन्यायैः प्रकर्षेण निश्चित्य कर्मफलदातुस्तवसद्भावप्रतिपादिकायां हि श्रुतौ "एतस्य वा [१]अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्या शंसन्ति देवा यजमानं दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः"।

"कर्माध्यक्षः [२]सर्वभूताधिवासः", "एष [३]उ ह्येवेनं साधु कर्म

---

१. ब्र० सू० ३।२।३८

१. बृहदारण्यक ३।८।९

२. श्वेताश्वतर ६।११

३. बृहदारण्यक कौशीतकी ३।९

दूसरे पक्ष में तो—लोक प्रत्यक्ष देह तथा इन्द्रिय आदि की अपेक्षा के समान ईश्वर की अपेक्षा भी निश्चित है ऐसा लोक में देखा जाता है। इसलिए श्रुति तथा न्याय सिद्ध ईश्वररूप धर्मी की बाधक कल्पना से उत्तम तो अपूर्व नामक पदार्थ साधनान्तर निरपेक्ष फलदातृत्व धर्म मात्र बाध कल्पना है "इस परमात्मा से फलप्राप्ति युक्तिसिद्ध है" इस न्याय से। यह सिद्धान्तमत अपूर्व को मान कर तथा ईश्वर में अपूर्व की अपेक्षा लेकर कहा गया है। यथार्थ रूप से तो अपूर्व सिद्धान्त में कोई प्रमाण नहीं है। लिङ् आदि पद तो इष्टसाधनता वाचक हैं। लिङ् आदि इष्टसाधक हैं और यह दूसरे ढंग से सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सहस्रों श्रुतियों तथा न्यायों से सिद्ध परमात्मा फल दाता है इसमें गतार्थ होने से अपूर्व की सिद्धि नहीं हो सकती। अपूर्व वादी मीमांसकों को अपूर्व तथा उसमें फलदातृत्व यह दो की कल्पना करनी होगी, ईश्वरवादी हम लोगों को केवल ईश्वर विषयक कल्पना करनी होगी। उसका फल प्रदान करना चेतन होने से राजा आदि के समान लोक-प्रत्यक्ष सिद्ध है। एवं सर्वज्ञ होने से ईश्वर में विभिन्न अनेक विध क्रमानुसार फल देने से विषमता तथा निर्दयता आदि दोष प्रसङ्ग न होगा। जब आप ही सभी कर्मों के फल दाता हैं इसी से कर्मफलाध्यक्ष आप फल देने में तत्पर हैं ऐसा भली प्रकार श्रुति स्मृति न्याय से यथार्थ निश्चय करके अर्थात् सब फल देने में आपकी परिचायक श्रुतियों में "हे गार्गि इस अक्षर ब्रह्म के शासन में द्युलोक एवं पृथ्वी लोक धारित हुए स्थित हैं। हे गार्गि इसी अक्षर के ही प्रशासन में मनुष्य लोग दान करते हुए परस्पर साक्षी परमात्मा की प्रशंसा करते हैं, देवगण यजमान से एवं पितरगण श्राद्ध से सम्वन्धित हैं" "सर्व भूतों में निवास करने वाला सभी कर्मों का अध्यक्ष है" "यह परमात्मा ही जिसे ऊपर लेना चाहता है उससे उत्तम कर्म कराता है यह ही निकृष्ट कर्म कराता है। जिसे नीचे ले जाना चाहता है" इत्यादि वेद वाक्यों में श्रद्धा करके

कारयति तं यमुन्निनीषते एष उ एवाऽसाधु'' इत्यादिकायां श्रुतौ श्रद्धां वद्ध्वा अर्थवादत्वप्रयुक्तस्वार्थाप्रामाण्यशङ्कानिरासेन लोक सिद्धदृढतरन्यायानुगृहीतया देवताधिकरणन्यायेन स्वार्थे प्रामाण्यं निश्चित्य जनः श्रुतिस्मृतिविहितकर्माधिकारी कर्मसु श्रौतस्मार्तेषु कृतपरिकरः कृतः परिकरः उद्यमो येन स तथा। कृतारम्भो भवतीत्यर्थः। प्रतिभूसादृश्यं च एतावन्मात्रेणैव विवक्षितम्। यथा कश्चिदुत्तमर्णः प्रमाणानिश्चितं दीर्घकालावस्थानं स्वधनार्पणसमर्थं कञ्चित्प्रतिभुवं निरूप्यअधर्मणे पलायिते मृते वा एतस्मादेव कुशलिनः प्रतिभुवः सकाशात्स्वधनं प्राप्स्यामीत्यभिप्रायेण यस्मै कस्मैचिदधर्मणाय ऋण प्रयच्छति तद्वदधर्मणस्थानीये कर्मणि प्रलीनेऽपि परमेश्वरादेव प्रतिभूस्थानीयात्तत्फलं प्राप्स्यामीत्यभिप्रायेणोत्तमर्णस्थानीयो यजमानो निःशङ्कमेव कर्मानुतिष्ठतीति भावः। हरिपक्षेऽप्येवम्। शेषं पूर्ववत्।

यद्वा सुजनः साधुजनः कर्म श्रुतिस्मृतिविहितं कर्माकृत कृतवान्। कीदृशः सुजनः। परिकरः परि सर्वतः कं सुखं राति ददातीति तथा सर्वेषां सुखकरः। अहिंसक इत्यर्थः। ''दृढ़परिकरः'' इति क्वचित्पाठः। तस्य दृढ़ारम्भ इत्यर्थः। अयं च न साम्प्रदायिकः ।।२०।।

एवं भगवत्प्रसादेन क्रतुफलप्राप्तिमुक्त्वा विहितानां शुभफलजनकत्वानुपपत्त्या धर्माख्यमपूर्वं द्वारत्वेन कल्पनीयमिति पक्षो निराकृतः। सम्प्रति विहिताकरणनिषिद्धकरणयोरशुभफलस्य भगवत्प्रसादासाध्यत्वात्तदर्थमवश्यमधमीख्यमपूर्वं कल्पनीयमिति

अर्थात् अर्थवादत्व होने से उत्पन्न स्वार्थ में अप्रमात्व शंका को हटाते हुए लोक, शास्त्र-सिद्ध अत्यधिक दृढ़ न्याय गर्भित देवताधिकरण न्याय से उन श्रुतियों का अपने स्वार्थ में प्रामाण्य का निश्चय कर श्रुति-स्मृति प्रतिपादितकर्म के अधिकारी जन श्रौत-स्मार्त कर्मों में उद्यमशील सदा उद्यमी बने रहते हैं। यज्ञ आदि के आयोजन में लगे रहते हैं यह अर्थ है। परमात्मा में साक्षीपन की समानता तो इतने मात्र से ही कहने का अभिप्राय है। जैसे कोई ऋण दाता प्रमाण सिद्ध अधिक दिन रहने में समर्थ अपने धन के देने में समर्थ किसी प्रतिभू (जमानतदार) को निश्चित करके ऋण-ग्राही के भाग जाने या मरने पर इसी कुशल जमानतदार से मैं अपना धन ले लूंगा इस आशय से जिस किसी ऋणगृहीता को ऋण देता है। ठीक उसी भांति ऋण गृहीता के समान कर्म के समाप्त हो जाने पर भी साक्षीभूत परमात्मा से कर्मफल प्राप्त करूंगा इस अभिप्राय से उत्तमर्ण स्थानापन्न यजमान शंकारहित हो कर्मानुष्ठान करता है, यह अर्थ है। विष्णुपक्ष में भी इसी रूप में अर्थ होगा। शेष पदव्याख्या पूर्व जैसी है।

अथवा जन शब्द के साथ सु उपसर्ग मान सकते हैं। तब अर्थ होगा—साधुजनों ने श्रुति स्मृति प्रतिपादित कर्म किया। कैसा सृजन? परिकर जो सभी दिशा में सभी को सुख देता है। इसलिए सभी के प्रति सुखकर सुजन व्यक्ति है। अर्थात् अहिंसक है। किसी पुस्तक में "दृढ़ परिकर" पाठ है। उसका "पक्की तैयारी" अर्थ होगा। परन्तु यह दृढ़ परिकर पाठ साम्प्रदायिक नहीं है ।।२०।।

पूर्व प्रतिपादित श्लोक से भगवान् की कृपा द्वारा यज्ञादिफल की प्राप्ति कहकर शास्त्र विहित कर्म स्वर्गादिफल तत्काल नहीं देते परन्तु धर्म नामक अपूर्व पैदाकर उनके द्वारा फल देते हैं। अतः अपूर्व मानना चाहिए, इस पक्ष का निराकरण किया। अब अग्रिम श्लोक में विहित कर्म के त्याग एवं निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से अशुभ फल (नरकादि) होगा और वह भगवान् की कृपा द्वारा सिद्ध न होगा। इसलिए अधर्म नामक

शङ्कायां राजाज्ञालङ्घनादेरिव भगवदाज्ञोल्लङ्घनादखिलानर्थफलत्वं दृष्टद्वारेणैव भविष्यतीत्यभिप्रायेण भगवतोऽप्रसादेन क्रतुफलाप्राप्तिमनर्थप्राप्तिं च दर्शयन् हरिहरौ स्तौति—

क्रिया दक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृताम्,
ऋषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याःसुरगणाः।
क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो,
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ।।२१।।

क्रियेति। हे शरणद! दक्षो दक्षनामा प्रजापतिः स्वयं क्रियास्वनुष्ठेयासु दक्षः प्रवीणः। यज्ञविधौ कुशल इत्यर्थः। एतेन विद्वत्त्वमधिकारिविशेषणमुक्तम्। तथा तनुभृतां शरीरिणामधीशः स्वामी प्रजापतित्वात्। एतेन सामर्थ्यमधिकारिविशेषणमुक्तम्। एतादृशः क्रतुपतिर्यजमानः। तथा ऋषीणां त्रिकालदर्शिनां भृगुप्रभृतीनामार्त्विज्यमृत्विक्त्वमध्वर्य्वादिरूपता। तथा सुरगणा ब्रह्मादयो देवगणाः सदस्याः सभ्या उपद्रष्टारः एतादृशसर्वसामग्रीसम्पत्तावापि त्वत्तः परमेश्वरादप्रसन्नात्क्रतोर्यज्ञस्य भ्रेषः भ्रंशो जातः। कीदृशात्? क्रतुफलविधानव्यसनिनः क्रतोर्यज्ञस्य फलं स्वर्गादि तस्य विधानं निष्पादनं तेन व्यसनी तदेकनिष्ठस्तस्मात् क्रतुफलदातृस्वाभावोऽपि त्वामवज्ञाय क्रतुभ्रंशहेतुतां नीत इत्यर्थः। एतदेव द्रढयन्नाह- ध्रुवमिति। ध्रुवं निश्चितं क्रतुफलदातरि परमेश्वरे विषये श्रद्धाविधुरं भक्तिरहितं यथा स्यात्तथानुष्ठिता मखा यज्ञाः कर्तुर्यजमानस्याभिचाराय नाशायैव भवन्तीत्यर्थः।

अपूर्व अवश्य मानना चाहिए इस शङ्का के उत्पन्न होने पर राजशासन की अवहेलना आदि के समान भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन से सभी भांति के अनर्थ फल प्रत्यक्ष सिद्ध दृष्टान्त के समान ही होंगे, इस अभिप्राय से भगवान् के कोप से कर्मफल की अप्राप्ति आदि एवं अनर्थ प्राप्ति को दिखाते हुए हरि एवं हर की स्तुति करते हैं—

हे शरणागत पालक प्रभो! कर्म करने में निपुण, प्रजाजानों का स्वामी दक्ष प्रजापति यज्ञ का कर्ता (यजमान) था, त्रिकाल द्रष्टा ऋषिगण ऋत्विक्, होता आदि के कर्म में थे तथा देवगण आमन्त्रित यज्ञ भाग के सामान्य सदस्य थे, परन्तु यज्ञ फल के वितरण रूपव्यसनी आपसे ही यज्ञध्वंस हो गया। (दक्ष यज्ञ नष्ट हुआ) अतः यह निश्चय है कि यजमान के किए गये श्रद्धाविहीन कर्म उसी के नाश के लिए ही सिद्ध होते हैं ।।२१।।

हे शरणद प्रभो! स्वयं सभी अनुष्ठान योग्य कर्म में प्रवीण दक्ष प्रजापति था। वह यज्ञ कर्म में प्रवीण था, इस कथन से यज्ञ कर्म के अधिकारी में विद्वता विशेषण कहा गया तथा प्रजापति होने से शरीरधारियों का अधिपति स्वामी था, इससे यज्ञ करने का सामर्थ्य अधिकारी का विशेषण कहा गया। ऐसा यज्ञकर्ता यजमान (दक्ष) था। तथा त्रिकालज्ञ भृगु आदि ऋषियों का ऋत्विक्, होता आदि में वरण था। इसी भांति ब्रह्मा आदि देवगण यज्ञदर्शक सभासदं थे। इस प्रकार सभी यज्ञ सामग्री के पूर्ण होने पर भी सर्वस्वामी परमेश्वर आपके क्रुद्ध होने से यज्ञ का विध्वंश हो गया। यज्ञ नाश किससे हुआ? क्रतुफल विधान व्यसनी से। अर्थात् यज्ञ के स्वर्ग आदि फल सिद्ध करना रूप कर्म ही जिसका व्यसन है, कर्म फलदान में ही निष्ठावान् से। यज्ञ फलदातृस्वभाव आप हैं तो भी (दक्ष ने) अनादर कर आपको ही यज्ञ नाश का कारण बना लिया। इसी आशय को दृढ़ करते हुए "ध्रुवम्" इत्यादि कहा है। यह अटल बात है कि यज्ञफल दानी परमात्मा में श्रद्धा न होने पर श्रद्धाविहीन द्वारा किये गये यज्ञादि यजमान (यागकर्ता) के ही नाश के कारण होते हैं यह अर्थ है।

हरिपक्षे तु तनुभृतामधीशः क्रतुपतिः। तनु स्वशरीरमेव विभ्रति पुष्णन्तीति तनुभृतो दैत्या देवबाह्यास्ते हि सुरनरपितृभ्यो न प्रयच्छन्ति सर्वहिंसया, स्वशरीरमेव पुष्णन्ति तेषामधीशो राजा बलिः क्रतुपतिर्यजमानः अथवा तनून् क्षीणान्विभ्रति पुष्णन्ति ते तनुभृतो वदान्यास्तेषामधीशो दातृवीराग्रगण्यो बलिः। कीदृशः? क्रियादक्षोदक्षः उत्कृष्टान्यक्षाणीन्द्रीयाणि यस्य स उदक्षः क्रियादक्षश्चासावुदक्षश्चेति स तथा। सुरेषु देवेषु गण्यन्ते इति सुरगणा देवतुल्याः पुरुषाः सदस्याः। श्रद्धा विधुरत्वं च भगवदनुगृहीतेन्द्रादिदेवगणैः सह विरोधात्। स्वभक्तद्रोहो हि भगवतः स्वद्रोहादप्यधिकः। शेषं पूर्ववत् ।।२१।।

अथ ब्रह्ममारीचयोर्मृगरूपयोर्वधं दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं,
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृश्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुम्,
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ।।२२।

प्रजानाथमिति हे नाथ नियामक! तव परमेश्वरस्य धनुःपाणेःधृतपिनाकस्य मृगव्याधरभसः मृगान् विध्यतीति मृगव्याधो लुब्धकः तस्यैव रभसः उत्साहातिरेको मृगव्याधरभसः शर एव तथा आरोपितः स चार्द्रानक्षत्ररूपेण परिणत इति पुराणप्रसिद्धः। अमुं प्रजानाथं ब्रह्माणं दिवं स्वर्गं यातं प्राप्तमपिनक्षत्रमध्ये मृगशिरोरूपेण

हरिपक्ष में तो—अपने शरीर का ही भरण पोषण करने वाले तनुभृत् दैत्य हैं। वे देवताओं से बाहर हैं क्योंकि वे देव, मनुष्य तथा पितरों को नहीं देते हैं, सभी का हनन करते हुए अपने देह को ही पालते हैं। उन दैत्यों का राजा बलि यज्ञकर्मा यजमान बना था अथवा तनु-रंकों का भरण पोषण करने वाले तनुभृत् दानी हुए। उन दानियों का राजा अर्थात् दानवीरों में अग्रगण्य बलि था। और विशेष कैसा था? क्रियादक्षो दक्ष था, उत्तम अक्ष इन्द्रिय समुदाय जिसकी हो वह उदक्ष है, क्रिया में दक्ष (चतुर) था। (वह बलि क्रिया कुशल पटुकरण था) देवों में गिने जाने योग्य सुरगण देवसमान पुरुष यज्ञ के सदस्य थे। पर भगवत्कृपापात्र इन्द्र आदि देवों से विरोध होने से श्रद्धा विधुरता भी थी। भगवान् के लिए अपने भक्त का द्रोह अपने द्रोह से भी अधिक होता है। शेष व्याख्या पहले जैसी है ।।२१।।

अब ब्रह्मा तथा मरीच का वध दिखाते हुए विष्णु तथा शिव की स्तुति करते हैं—

हे नाथ! (किसी समय) कामातुर हो ब्रह्मा ने अपनी पुत्री को हठ से बलपूर्वक रमण करने की इच्छा की। (उस समय) वह लज्जा से मृगी बनकर भागी और ब्रह्मा भी मृग देह से पीछे दौड़े। आपने भी (ब्रह्मा को) दण्ड देने के लिए मृग के शिकारी के वेग के समान वेग में हाथ में धनुष लेकर वाण चला दिया। मृगी के पीछे ब्रह्मा मृग रूप में पहुंचे तथा उनके पीछे बाण पहुँचा अभी ही वह वेध देगा। इस रूप में त्रस्त ब्रह्मा को आज भी वह बाण नहीं छोड़ रहा है। (ब्रह्मा मृगशिरा नक्षत्र बने उनके पीछे बाण आर्द्रा नक्षत्र बन कर अब भी लगा रहता है।) ।।२२।।

हे सर्वजननियामक नाथ! हाथ में धनुष लिए आपने, स्वयं परमात्मा मृग व्याध के वेग को (धारण किया) मृगों को मारे वह मृग व्याध वहेलिया है। उसके समान उत्साह सम्पन्न होकर उस आवेश में वाण का सन्धान किया। और वह बाण आर्द्रा नक्षत्र रूप में परिवर्तित हो गया यह पुराण प्रसिद्ध है। उस प्रजापति ब्रह्मा को जो स्वर्ग पहुंचा

परिणतमपि तथा सपत्राकृतं सह पत्रेण शरं शरीरे प्रवेश्यातिव्यथां नीतः सपत्राकृतस्तादृशमिवात्मानं मन्यमानम्। रूपकमेतत्। शरस्यार्द्रानक्षत्ररूपेण सन्निधानमात्रं नतु ताडनमिति द्रष्टव्यम्। अथवा शरेण ताडित एव व्रह्मा रुद्रस्य क्रोधोत्साहविशेष एवार्द्रानक्षत्ररूपेण परिणत इति पुराणान्तरप्रसिद्ध्या द्रष्टव्यम्। अतएव त्रसन्तं विभ्यन्तमद्यापि न त्यजति। इदानीमपि धनुष्पाणिमेव त्वां सर्वदा दर्शयतीत्यर्थः। तस्यैतादृशदण्डार्हतामाह। स्वात्मीयां दुहितरं पुत्रीं रोहिद्भूतां लज्जया मृगीभूताम् ऋश्यस्य मृगस्य वपुषा शरीरेण रिरमयितुमिच्छुम्। इयं चेल्लज्जया मृगीभूता तर्ह्यहमपि मृगरूपेणेनां भजिष्यमिति वुद्ध्या मृगरूपेण प्रसभं हठेनानिच्छन्तीमपि तां गतं रत्यर्थं प्राप्तम्। तस्य परमविशनोऽपि स्वमर्यादातिक्रमे कारणं वदन्विशिनष्टि। अभिकं कामुकम्। कामेनाभिभूतत्वात्स्वमर्यादोल्लङ्घिनमित्यर्थः। एवं हि पुराणेषु प्रसिद्धम्—"व्रह्मा स्वदुहितरं सन्ध्यामतिरूपिणीमालोक्य कामवशो भूत्वा तामुपगन्तुमुद्यतः। सा चायं पिता भूत्वा मामुपगच्छतीति लज्जया मृगीरूपा वभूव। ततस्तां तथा दृष्ट्वा व्रह्मापि मृगरूपं दधार। तच्च दृष्ट्वा त्रिजगन्नियन्त्रा श्रीमहादेवेनायं प्रजानाथो धर्मप्रवर्तको भूत्वाप्येतादृशं जुगुप्सितमाचरतीति महतापराधेन दण्डनीयो मयेति पिनाकमाकृष्य शरः प्रक्षिप्तः। ततः स व्रह्मा व्रीडितः पीडितश्च सन् मृगशिरोनक्षत्ररूपो वभूव। ततः श्री रुद्रस्य शरोऽप्यार्द्रानक्षत्ररूपो भूत्वा तस्य पश्चाद्भागे स्थितः। तथा चार्द्रामृगशिरसोः सर्वदा सन्निहितत्वादद्यापि न त्यजति" इत्युक्तम्।

और नक्षत्रों के बीच मृगशिरा नक्षत्र रूप में परिवर्तित हुआ, फिर भी सपत्राकृत (हुआ) पङ्खों के सहित बाण को देह में वेधकर बहुत बड़ी पीड़ा में पहुंचाया गया तथा उसी रूप में अपने को देखता रहा। यह रूपकालङ्कार है। बाण का आर्द्रा नक्षत्र रूप में पास में रहना मात्र है न कि बाण से मारना ऐसा यहां समझना चाहिए। अथवा बाण से चोट खाया ब्रह्मा रुद्र (भगवान् शिव) के क्रोधपूर्ण उत्साह का आवेग ही आर्द्रा नक्षत्र रूप में परिणत हुआ। इसको अन्य पुराणों की प्रसिद्धि से समझना चाहिए। इसी से त्रस्त (भयभीत) ब्रह्मा को आज भी नहीं छोड़ता है, इस समय भी आपको धनुर्धारण किए ही सदा देखता रहता है यह भाव है। उस ब्रह्मा के इतने बड़े दण्डनीय होने में हेतु दिखाते हैं। स्वांदुहि० इत्यादि से। अपनी निज कन्या को लज्जा से मृगीरूप में देख मृग शरीर से ब्रह्मा रमणेच्छु हुआ था। यह यदि लज्जा वश मृगी बन गई है तो मैं भी मृग रूप से ही इसको ग्रहण करूंगा इस बुद्धि से मृग रूप द्वारा बलपूर्वक उसके न चाहने पर भी, उसे रमण की इच्छा से प्राप्त किया। परंवशी होते हुए ब्रह्मा का अपनी बनाई मर्यादा के उल्लंघन में कारण बताते हुए विशेषता दिखाते हैं—ब्रह्मा की कामुकता अर्थात् काम से पीड़ित ब्रह्मा ने अपनी मर्यादा का उल्लंघन किया ऐसी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है—एक समय "ब्रह्मा अति रूप यौवन सम्पन्न सन्ध्या नाम की अपनी पुत्री को देख, काम वशीभूत होकर उसके प्रधर्षण के लिए तैयार हो गया।" तथा उस सन्ध्या ने "यह पिता हो कर हम पर मोहित है" इससे लज्जा के कारण मृगीरूप धारण किया। ब्रह्मा भी उसे मृगीरूप में देखकर मृगरूप हो गया। ब्रह्मा का यह सब कृत्य देखकर तीनों लोक के शासक देवाधिदेव श्री महादेव ने वह प्रजापति है, धर्म का प्रवर्तक है, ऐसा होकर भी इस प्रकार घृणित आचरण कर रहा है" इस महापराध से मेरे द्वारा दण्डनीय है, ऐसा विचार कर बधार्थ धनुष चढ़ाकर बाण छोड़ दिया। उसके बाद लज्जित एवं व्यथित होता हुआ ब्रह्मा मृगशिरा नक्षत्र रूप में परिणत हो गया। ब्रह्मा के नक्षत्र बनने पर भगवान् श्री रुद्र का बाण भी आर्द्रा नक्षत्र रूप

हरिपक्षे तु—हे नाथ! रोहिद्भूतां गतं प्रजानाथं दिवं यातमपि धनुष्पाणेस्तव मृगव्याधरभसोऽद्यापि न त्यजति। रोहितो हरिण्याः सकाशद्भवतीति रोहिद्भूर्हरिणशावकः तस्य भावो रोहिद्भूतां तां गतम्। हरिणशावकत्वं प्राप्तमित्यर्थः। प्रजाः प्राणिनो नाथति—उपतापयतीति प्रजानाथो राक्षसः स च प्रकृते मारीचाख्यस्तम्। किमर्थं तस्य मृगरूपधारणमित्यत आह—प्रसभमभिकं रिरमयिषुं प्रकृष्टा शौर्यादियुक्ता सभा यस्य स प्रसभस्तं तादृशम्, अभितः कानि शिरांसि यस्य सोऽभिको दशग्रीवस्तम्। सीताहरणोपायेन क्रीडयितुमिच्छुम् तथा स्वां दुहितरमयोनिजां कन्यां सीताम् ऋश्यस्य वपुषा विचित्रमृगशरीरेण रिरमयिषुं प्रमोदयितुमिच्छुम्। विचित्रमृगरूपं मां दृष्ट्वा सीता स्त्रीस्वभावादतिमुग्धा मच्चर्मग्रहणार्थं श्रीरामं प्रेरयिष्यति। ततो रामे बहुदूरं मयाऽपसारिते लक्ष्मणे च तदुद्देशार्थं गते एकाकिनीं सीतां रावणः सुखेन हरिष्यतीत्यभिप्रायेण धृतविचित्रमृगशरीरमित्यर्थः। अतएव बाणेन सपत्राकृतत्वाद्दिवं परलोकं यातम् मृतमित्यर्थः। अमुं मृतमपि त्रसन्तमद्यापि तव मृगव्याधरभसो न त्यजतीत्युत्प्रेक्षारूपो ध्वनिः। शेषं पूर्ववत् ।।२२।।

परमवशिनां वरावपि श्रीराममहादेवौ लक्ष्मीपार्वत्यनुकम्पया स्त्रैणमिवात्मानं दर्शयत इति प्रतिपादयन्स्तौति—

होकर उसके पीछे पीछे लगा रहता है। इसी प्रकार आर्द्रा तथा मृगशिरा का सदा साथ बने रहने से आज भी (आर्द्रा) पीछा नहीं छोड़ता, ऐसा कहा है।

विष्णु पक्ष में तो—हे नाथ, रोहित रूप को प्राप्त कर प्रजाद्रोही मारीच-स्वर्ग गया तो भी मृग व्याध के समान बाण आज भी नहीं छोड़ता है। रोहित नाम हरिण का है अतः रोहित के द्वारा जो उत्पन्न हो वह रोहिद्‌भू हरिण शिशु हुआ, रोहिद्‌भू का भाव रोहिद्‌भूतता को प्राप्त किया। अर्थात् हिरण के बच्चे की अवस्था प्राप्त की। प्रजाजनों (प्राणियों) को नाथे, पीड़ित करे, सतावे, ऐसा प्रजानाथ राक्षस, वह यहां मारीच नाम का (गृहीत है)। उसने क्यों मृगरूप धारण किया इस पर आगे कहते हैं—प्रसभ० चारों ओर से बड़ी उत्तम, मन रमाने में अति शूरतादि युक्त सभा जिसकी थी वह प्रसभ है, जिसके चारों ओर शिर है वह अभिक दशग्रीव रावण सीताहरण के उपाय से मनोविनोद की इच्छा करता था। एवं अयोनिजा अपनी कन्या सीता को मृग की देह से अर्थात् विचित्र मृग देह से मन बहलाने का इच्छुक था। विचित्र मृगरूप में हमें देखकर सीता स्त्री है, स्वभावतः मूढा मुग्ध है। हमारे चर्म प्राप्ति के लिए श्रीरामचन्द्र को भेजेगी। उसके अनन्तर राम को मैं बहुत दूर ले जाऊंगा और उस समय लक्ष्मण के राम के निमित्त चलने पर एकान्त में अकेली सीता को रावण विना परिश्रम के हरण कर ले जायेगा इस अभिप्राय से उस मारीच ने बड़े विचित्र मृग का शरीर धारण किया था। इसी से बाण द्वारा विंध जाने से परलोक गया, (मर गया) यह अर्थ है। मरने पर भी उसे त्रस्त होने पर आज भी आपका मृगबधिक के वेग सदृश बाण नहीं छोड़ता है यह उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनित है। शेष पदों का व्याख्यान शिव पक्ष के समान है ।।२२।।

परम जितेन्द्रियों में भी श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र एवं श्रीमहादेव लक्ष्मी तथा पार्वती पर कृपा कर अपने को स्त्रीपरायण के समान दिखाते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुए स्तुति करते हैं—

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणवत्,
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत! देहार्धघटना-
दवैति त्वांमद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ।।२३।।

स्वलावण्येति। हे पुरमथन! हे यमनिरत! यमनियमासनाद्यष्टाङ्गयोगपरायण। एतेन जितेन्द्रियत्वमुक्तम्। पुष्पायुधं कामं त्वया तृणवत्तृणमिव असहायं शीघ्रं प्लुष्टं दग्धं पुरः साक्षादेवावयवधानेन दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य। कीदृशं पुष्पायुधम् स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं स्वस्याः पार्वत्याः यल्लावण्यं सौन्दर्यतिशयस्तद्विषया आशंसा परमयोगिनमपि श्रीरुद्रमस्याः सौन्दर्यातिशयेन वशीकरिष्यामीति या प्रत्याशा तथा निमित्तभूतया धृतं धनुर्येनेति तथा तम्। एतेन स्वलावण्यातिशयस्यापि श्रीरुद्रविषयेऽकिञ्चित्करत्वमुक्तम्। तथाचैवं स्वलावण्यवैयर्थ्यं पुष्पायुधस्य तृणवद्दाहं च स्वयं साक्षात् कृत्वाऽपि देवी पार्वती इयं चिरकालं मामुद्दिश्य तपः कृतवती विरहदुःखं मा प्राप्नोत्विति करुणामात्रेण देहार्धंटनात् त्वया स्वशरीरार्धेऽवस्थापनाद्धेतोर्भ्रमवीजात् यदि त्वां सर्वयोगिनां वरं स्त्रैणं यद्ययं मदधीनो न भवेत् कथं मां स्वशरीरार्धे स्थापयेदिति भ्रान्त्या स्त्रीसक्तं यद्यवैति विशेषादर्शनात्कल्पयति तर्हि तदद्धा युक्तमेव

हे पुरमथन! पुष्पधन्वा ने सर्वसुन्दरी पार्वती के सौन्दर्य से (महादेव) पर विजय प्राप्त कर लूंगा, इस अभिप्राय से धनुष उठाया। पर हे यमनिरत! अष्टाङ्गयोगपरायण! आपने उस काम को नेत्र से देखते ही भस्म कर दिया। अपने सम्मुख तृण के समान उसी क्षण भस्म हुआ देख कर भी हे वरदानी प्रभो! आधा देह देकर (अर्धनारीश्वर होने से) यदि वह देवी आपको नारीवशीभूत जानती है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि दुःख से कहना पड़ता है कि स्त्रियां विचारहीन होती हैं। कोई चाहे जो समझे आप स्त्रैण नहीं हैं ।।२३।।

हे पुरमथन! हे यमनिरत! यम, नियम, आसन आदि अष्टाङ्गयोगपरायण प्रभो! इस कथन से (भगवान् में) जितेन्द्रियपन कहा गया। पुष्पधन्वा कामदेव आप से तिनके के समान झट से अति शीघ्र जलाया गया, और जलते हुए उसे सामने, प्रत्यक्ष रूप में, बिना किसी व्यवधान के, नेत्रों द्वारा देखकर-किस प्रकार के पुष्पधन्वा को देख कर स्वलावण्या-पार्वती की अधिक सुन्दरता से वश में कर लूंगा इस प्रकार की सम्भावना के कारण से जिसने धनुष उठा लिया था, ऐसे पुष्पधन्वा को देखकर, इससे पार्वती की विशिष्ट सुन्दरता भी श्रीरुद्र के विषय में किसी प्रकार प्रभावकर न हुई। तथा इसी भांति अपनी सुन्दरता की व्यर्थता और कामदेव का तृण के समान भस्म होना, स्वयं सामने देखकर भी पार्वती देवी को, इसने बहुत समय तक (हमको प्राप्त करने के निमित्त) तपस्या की, वियोग दुःख न प्राप्त करे, इस विध दया के कारण आपने आधे शरीर में स्थापित किया, यह ही उसके लिए भ्रम का कारण है। इसी भ्रम से सर्वयोगियों में श्रेष्ठ आपको यदि स्त्रैण (मेरे अधीन) न होते तो क्यों अपने आधे शरीर में स्थान देते? इस भांति भ्रम से स्त्री की आसक्ति वाले हैं" ऐसा समझती है, सम्पूर्ण महात्म्य का ज्ञान न होने से, तो ठीक है, पार्वती के लिए कोई अनुचित नहीं है। अयोग्य होने पर योग्य होने में 'वत' इत्यादि से कारण कहा

तस्याः। अयुक्तस्यापि युक्तत्वे हेतुमाह—बतेस्यादि। हे वरद! अतिदुर्लभमपि खदेहार्धं दत्तमिति वरदेति योग्यं सम्बोधनम्। बत अहो, युवतयस्तरुण्यः मुग्धा अतत्त्वज्ञाः। स्वभावत एवेति शेषः। तथा च सहजानां युवतिविभूषणानां प्रधानं मौग्ध्यमनुकुर्वन्त्याः स्वरूपतश्चितिरुपाया अपि देव्या मिथ्याज्ञानं युक्तमित्यर्थः।

हरिपक्षे तु—हे अर्धघटनादव! घटनाया अर्धमिति अर्धघटना अर्धं पिप्पलीवत्। तस्या दवो वनवह्निः। दाहक इति यावत् सीतारूपाया लक्ष्म्या रामरूपेणोचितात्संयोगात्स्वेच्छयाऽर्धसम्भोगं दत्त्वाऽविप्रलम्भं दत्तवानसीत्यर्थः। सा पूर्वश्लोकोक्ता देवी सीतारूपा लक्ष्मीः। कीदृशी? यमनिरतदेहा अत्यन्तपतिव्रता। तथा पुरमथनपुष्पा पुरस्य शरीरस्य मथनानि पीडकानि पुष्पाणि यस्याः सा तथा पुष्पाणामपि स्पर्शासहा। अतिसुकुमाराङ्गीत्यर्थः। त्वां श्रीरामरूपं यदि स्त्रैणमवैत्यवगच्छति तदद्धेत्यादि पूर्ववत्। त्वां कीदृशम्। स्वलावण्याशं स्वकीयं लावण्यमत्र शौर्यादिगुणकृतं सौन्दर्यं तस्मिन्नाशा यस्य स स्वलावण्याशस्तम्। सीताया अनुद्धरणात्स्वस्य शौर्यादिप्रसिद्धिर्गच्छेदिति स्वकीर्तिरक्षार्थिनमित्यर्थः। अतएव धृतधनुषं सज्जीकृतकोदण्डम्। इदमेकं भ्रमबीजमुक्तम्। भ्रमबीजान्तरमाह—अह्नाय तृणवत्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा शीघ्रमेव तृणस्येव पुरो लङ्कायाः प्लुष्टं दाहम् भावे क्तः तथा युधं युद्धमपि दृष्ट्वा। आयुधशब्दस्य शस्त्रे युद्धे चानुशासनात्। तथा च स्वकीर्तिरक्षार्थमत्यन्तपतिव्रतायाश्च देव्याः कारुण्येन

गया है। हे वरद! अपने देह का अर्ध भाग देना बड़ा कठिन है और वह भी भगवान् ने दिया। अतः आपके लिए वरद सम्बोधन योग्य ही है। यह विचित्र आश्चर्य है कि तरुणियां मुग्ध (स्वभावतः सही ज्ञान से वञ्चित) हुआ ही करती हैं। इससे यह भाव है कि स्वभाव से पैदा होने वाले युवतियों के विशेष भूषणों में मुग्धता है। और उसका अनुकरण करती हुई स्वरूपतः चेतना देवी को मिथ्या ज्ञान भ्रम होना उचित ही है।

विष्णु पक्ष में तो—हे अर्धघटनादव! घटना-योजना-योग के आधे अर्थ में अर्धघटना शब्द है। अर्ध पिप्पली के समान समास है। अर्धघटना के लिए जो वनाग्नि के समान भस्मकारक, (यह अर्थ होगा) सीतारूप लक्ष्मी को रामरूप से उचित योग्य संयोग से (अपनी इच्छा से) आधा संभोग प्रदान कर विश्वास युक्त किया है। पहले २२वें श्लोक में कही गयी देवी सीतारूप लक्ष्मी है। वह कैसी है? यमनिरत-देहा अतिशय पतिव्रता है, तथा पुर नाम शरीर का है उसे मथन पीड़ित करने में समर्थ है पुष्प जिसके अर्थात् फूलों के स्पर्श को भी सहने में समर्थ नहीं है। आशय है कि वह बड़ी कोमलाङ्गी है। श्रीराम रूप में यदि आपको स्त्रैण समझती है तो योग्य ही है उसका समझना आदि शब्द योजना पहले जैसी है, कि किस रूप में आप है? अपना लावण्य विशेष जिसे शूरता आदि गुण से जाना जाता है उसमें रुचि है जिसकी वह लावण्याशा युक्त आप हैं। सीता के बिना उद्धार किए अपनी शूरता आदि प्रसिद्धि समाप्त हो जाएगी इससे अपनी कीर्ति रक्षा में तत्पर हैं। अतएव धनुष वाण का सन्धान किए हैं। यह एक भ्रम का कारण है। दूसरा भ्रम का कारण आगे कह रहे हैं। झट पट तृण के समान अपने सामने भस्म हुई लङ्का को देखकर (भावार्थ में 'प्लुष्ट' पद में क्त प्रत्यय है) तथा युद्ध करते (संग्राम रत) देखकर (कोष के द्वारा आयुध शब्द युद्ध तथा शस्त्र में प्रयुक्त है) अर्थात् अपनी कीर्ति रक्षा के लिए अति पवित्र पतिव्रता सीतादेवी का दया

क्लेशविमोचनार्थं सज्जीकृतकोदण्डं त्वामर्धघटनादेवमप्ययं यदि मदधीनो न भवेत्तदा कथमेतादृशदुष्करकर्माणि मामुदिश्य कुर्यादिति भ्रमेण स्त्रीसक्तमिव कल्पयतीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत् ।।२३।।

अथ स्वयमङ्गलशीलतया क्रीडन्नपि भक्तानां मङ्गलमेव ददाति, स्वयममङ्गलशीलतया भक्तानां त्वमेव मङ्गलमसीति च वदन् शङ्करनारायणौ स्तौति—

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर! पिशाचाः सहचरा—
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम्,
तथापि स्मर्तॄणां वरद! परमं मङ्गलमसि ।।२४।।

श्मशानेति। हे स्मरहर! हे वरद! तवाखिलमपि शीलं सर्वमपि चरितमेवंप्रकारेणामङ्गल्यं मङ्गलविपरीतं भवतु नाम। किं नस्तेन निरूपितेनेत्यर्थः। तथापि स्वयममङ्गलशीलोऽपि स्मर्तॄणां तव स्मरणकर्तॄणां त्वं परमं मङ्गलमेवासि निरतिशयं कल्याणमेव भवसि। तेनामङ्गलशीलोऽयं रुद्रो न मङ्गलकामैः सेवनीय इति भ्रमं परिहृत्य मनोवाक्कायप्राणिधानैः सर्वदा सर्वैः सेवनीयोऽसीत्यर्थः। एवम्पदसूचितममङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति। श्मशानेषिवत्यादि। श्मशानेषु शवशयनेष्वाक्रीडाऽऽसमन्तात्केलिः, पिशाचाः प्रेताः सहायाः, चिताभस्म शवदाहस्थं भस्माङ्गलेपोऽङ्गरागसाधनम्, नृकरोटी मनुष्यशिरोऽस्थिसमूहः स्रङ् माला। अपिशव्दादन्यदप्यार्द्रचर्मादि।

के कारण दुःख छुड़ाने के लिए धनुष सन्धान किये हुए आपको, अर्ध संयोगी देवता को, भी 'यदि यह हमारे अधीन न होते तो इस प्रकार कठिन कर्म हमारे निमित्त क्यों करते'? इस भ्रम से स्त्रीसङ्गी के समान यदि कल्पना करती है तो शेष पहले जैसा है ।।२३।।

अब, स्वयं अमङ्गलस्वभाव से क्रीड़ा करते हुए भी भक्तों को मङ्गल ही प्रदान करते हैं। स्वतः अमङ्गल शील भक्तों के प्रति भी आप ही मङ्गलरूप हैं यह कहते हुए भगवान् शिव तथा श्रीमन्नारायण का स्तवन करते हैं।

हे स्मरहर! मदनदहन! प्रभो! श्मसानभूमि में प्रसन्नतापूर्वक खेलना, प्रेतपिशाचगण साथी, चिता की भस्म शरीर में लपेटे रहना, इतना ही नहीं और भी मनुष्य की खोपड़ियों की माला गले में पहने रहना यह सब आपका अमङ्गल स्वभाव स्वभावतः अमङ्गलकारी भले हो पर हे वरदाता भगवन्? स्मरण करने वाले भक्तों को तो आप परम मङ्गलरूप (मङ्गलकारी) हैं ।।२४।।

हे स्मरहर! हे वरद! आपका सम्पूर्ण शील सभी चरित इस रूप से अमङ्गलमय हो तो होवे। उससे हमारा क्या होगा। उसके निर्वचन से क्या लाभ है? तो भी स्वयं अमङ्गलशील होते हुए भी अपने स्मरण कर्ता भक्तजनों के प्रति परम मङ्गल ही हैं। सबसे बढ़े चढ़े कल्याणमय ही हैं। इससे यह अर्थ है कि यह रुद्र अमङ्गलशील है अतः मङ्गल के इच्छुक लोगों को सेवा नहीं करनी चाहिए इस प्रकार के भ्रम को छोड़कर मन वाणी एवं शरीर क्रिया से परमात्मा सेवा द्वारा सदा सभी के द्वारा सेव्य हो। "एवं" शब्द से सूचित किये गये अमङ्गलशील को ही आगे श्मशाने० इत्यादि से दिखाते हैं। श्मशान भूमि जहां मुर्दे पड़े रहते हैं, वहां सभी भांति विहार क्रीड़ा, भूत प्रेत पिशाच (खेल में) साथी, चिता की राख अर्थात् मुर्दा जलाने की जगह की भस्मी शरीर में लेप करने के लिए अङ्गराग, मनुष्य के सिर की हड्डियों (खोपड़ी) की गले में पहनने के लिए माला और "अपि" शब्द से पहनने बिछाने के लिए गीला चर्म है।

हरिपक्षे तु—हे वरद तव स्मर्तॄणाममङ्गल्यं शीलं भवतु नाम, तथापि तेषां त्वमेव परमं मङ्गलमसीत्यर्थः। तथा च गीतासु—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।" इति। अथवा तव नामस्मर्तॄणामिति योज्यम् नाममात्रं स्मरतां परमं मङ्गलमसि त्वां स्मरतां तु किमु वाच्यमित्यर्थः। कीदृशं नाम। अखिलं न खिलं फलरहितमखिलं सर्वदा सर्वत्र सफलमित्यर्थः। अत्यन्तपापित्वेन प्रसिद्धानामजामिलादीनामपि त्वन्नाममात्रस्य पुत्रनामत्वेन मरणव्यथया शिथिलकरणत्वेन च मन्दमुच्चारणेऽपि सर्वपापक्षयद्वारा परमपुरुषार्थप्राप्तिश्रवणात्। अमङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति श्मशानेष्वित्यादि रूपकेण। अत्यन्ततिरस्कृतिवाच्यो ध्वनिरयं लक्षणामूलः। शवशयनतुल्येषु सर्वदा रोदनप्रधानेषु गृहेषु आ ईषत् क्रीडा, अल्पकालं वैषयिकतुच्छसुखप्राप्तिरित्यर्थः। तथा च स्मरहरपिशाचाः सहचराः स्मरणं स्मरः शास्त्रीयो विवेकस्तं हरन्तीति स्मरहराः पिशाचतुल्याः पुत्रभार्यादयः पिशाचा, स्मरहराश्च ते पिशाचाश्च स्मरहरपिशाचाः। यथा पिशाचाः स्वावेशेन ज्ञानलोपं कृत्वा पुरुषमनर्थे योजयन्ति तथा पुत्रभार्यादयोऽपि। तादृशाश्च वस्तुगत्या वैरिणोऽपि सहैव चरन्ति न क्षणमपि त्यजन्तीति सहचराः। तथा चिताभस्मतुल्य आलेपः। देहस्य विण्मूत्रपूयादि पूर्णत्वेनातिजुगुप्सितत्वात्तदालेपनस्याप्यतिजुगुप्सितत्वम्। तथा मनुष्यशिरोऽस्थिसमूहतुल्या माला पिशाचतुल्यं भार्यादि

विष्णुपक्ष में तो—हे वरद! आपके स्मरणकर्ता भक्तजनों का शील अमङ्गलरूप क्यों न हो तो भी उनके लिए आप ही परम मङ्गल रूप हो। इसी आशय का गीता में निर्देश है (अपि) "बहुत बड़ा दुराचारी क्यों न हो अनन्य प्रेम से जो मेरा भजन करता है उसे साधु ही मानना चाहिए क्योंकि उसने भली भाँति यथार्थ निश्चय कर लिया है।" इस प्रकार अथवा "आपके नाम स्मरणकर्ता जनों" के लिए यह पद जोड़ना चाहिए। अर्थ यह हुआ कि केवल नाम मात्र का स्मरण करने पर उनके लिए परम मङ्गल रूप हो फिर जो आपका ही स्मरण करते हैं उनके लिए तो कहना ही क्या। भगवत् नाम कैसा है? जो खिल-फलरहित न हो वह अखिल है, सर्वदा सभी स्थान पर सफल है। बहुत बड़े पापीरूप में प्रसिद्ध अजामिल आदि को भी आपके केवल नाम मात्र को—पुत्र नाम से मरण की, अतिशय पीड़ा से दुर्बल इन्द्रियों से धीरे से उच्चारण करने पर भी समस्त पाप नाश द्वारा परमप्रिय पद (पुरुषार्थ) की प्राप्ति (पुराणों से) सुनी गई है। उस अमङ्गलशील को ही आगे दिखाते हैं—श्मशानेषु० इत्यादि शब्दों के रूपक से। गृहसुख अत्यन्त तिरस्कार का पात्र है, यह ध्वनि लक्षणा से लक्षित है। शवशयन स्थान-श्मशान के समान जहां सदा रोने की प्रधानता ही है। उसमें थोड़ी सी क्रीड़ा है अर्थात् क्षणिक विषय-जन्य सुख की प्राप्ति है। तथा साथ ही साथ नाश करने वाले पिशाच के बराबर है। इस से पुत्र कलत्र आदि पिशाच हैं। तथा वे स्मृति नाशक पिशाच हुए। जैसे पिशाच जिस जिस में अपना आवेश करते हैं उससे उसका ज्ञान लुप्त करके पुरुष (व्यक्ति) को अनर्थकारी (नाशक) कार्य में या दुःख में पहुँचा देते हैं, वैसे पुत्र स्त्री आदि भी पुरुष को अनर्थ में जोड़ देते हैं। पिशाच के समान सही रूप में वे वैरी होते हुए भी साथ रहते हैं एक क्षण भी साथ नहीं छोड़ते इससे वे सहचर सहायक भी हैं। एवं चिता की राख के समान अङ्गराग है, देह मल मूत्र मवाद आदि पूर्ण होने से अतिशय

विनोदहेतुत्वात्। अपि शब्दादन्यदपि सर्वं चरितं विषयसङ्गिनाममङ्गलमेव। एतादृशा अपि चेत्त्वां त्वन्नाम वा स्मरन्ति तदा त्वमेव तेषां मङ्गल्यरूपेणाविर्भवसीत्यहोऽतिभक्तवात्सल्यमित्यर्थः। हरपक्षेऽप्येवं योजनीयम् ।।२४।।

अतीतः पन्थानमित्यत्र हि पदार्थत्रयमुपन्यस्तम्, कतिविधगुण इत्यनेन सगुणमैश्वर्यम्, कस्य विषय इत्यनेनाद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपम्, पदे त्वर्वाचीन इत्यनेन लीलाविग्रहविहारादि। तत्र अजन्मानो लोका इत्यत्र सामान्यतः परमेश्वरसद्भावं दृढीकृत्य, तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरीत्यादिना सगुणमैश्वर्यं लीलाविग्रहविहारादिकं च वर्णितम्। सम्प्रत्यद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं वक्तव्यमवशिष्यते। तदनभिधाने पूर्वोक्तस्य सर्वस्यापि तुषकण्डनवत्त्वप्रसङ्गान्निर्गुणब्रह्मस्वरूपस्यैव सर्वश्रुतिस्मृतितात्पर्यविषयत्वेन सत्यत्वात्, सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य स्वप्नवन्मिथ्यात्वाच्च। तस्मान्निर्गुणब्रह्मनिरूपणायोत्तरग्रन्थारम्भः। तत्र पूर्वश्लोके त्वं परमं मङ्गलमसीत्युक्तम्। तत्रैवमाशङ्क्यते। मङ्गलं हि सुखम्। न चेश्वरस्य सुखस्वरूपत्वं सम्भवति सुखस्य जन्यत्वाद्गुणत्वाच्च, ईश्वरस्य नित्यत्वादद्रव्यत्वाच्च। "नित्यज्ञानेच्छा प्रयत्नवानीश्वरो न सुखरूपो नापि सुखाश्रयः" इति तार्किकाः 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरश्चि-

१. योग सू० १ पा २४ सू०।

घृणास्पद है। तथा उसका आलेप (पाउडर) आदि भी अतिशय घृणायोग्य है। तथा मनुष्य के सिर की हड्डियों के समान माला है क्योंकि पिशाच तुल्य स्त्री आदि विनोद के कारण जो हैं। 'अपि' शब्द बल से और सभी विषयीजनों का चरित्र अमङ्गल ही है। ऐसे अमङ्गल स्वभाव जन भी यदि आपका अथवा आपके नाम का जब स्मरण करते हैं उस समय उनके लिए आप मङ्गलमय रूप से ही प्रकट होते हैं। अतः धन्य है आपकी भक्तवत्सलता, यह अर्थ है। यह पूर्वोक्त सभी विशेष भाव शिव पक्ष में भी लगाने चाहिए ।।२४।।

अतीतः० श्लोक में तीन विषयों का उपक्रम किया, "कतिविधगुण" इस पद से सगुण ऐश्वर्य, "कस्य विषय" इस अंश से अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप, और "पदे त्वर्वाचीने" इस अंश से लीला के लिए ग्रहण किए देह तथा उसके विविध विहार। उसके बाद (अजन्मानो) छठें श्लोक में साधारणतया परमेश्वर की सत्ता दृढ़ करके, (तवैश्र्यम्) से लेकर सगुण, ऐश्वर्य, लीला देह से विहार आदि का वर्णन किया। अब आगे अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन शेष रहा है। उसके प्रतिपादन के न होने पर पूर्व कथित सबके सब धान की भूसी कतरने के समान ही व्यर्थ है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म स्वरूप ही तो सभी श्रुति एवं स्मृतियों का प्रतिपाद्यतात्पर्य सत्य पदार्थ है और सभी प्रपञ्च (दृश्य जगत्) स्वप्न के समान मिथ्या है। इसलिए आगे के श्लोक निर्गुण ब्रह्म स्वरूप निरूपण के लिए प्रारम्भ किये जाते हैं। अभी श्लोक में आप (परमात्मा) परममङ्गल स्वरूप हैं यह कहा। इस विषय में ऐसी आशङ्का होती है कि सुख ही तो मङ्गल है, तथा ईश्वरं-परमात्मा सुख स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि सुख उत्पन्न होता है तथा सुख गुण है, परमेश्वर नित्य है और द्रव्य रूप है (द्रव्य में गुण होते हैं) अतः "नित्य ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न वाला ईश्वर न तो सुखरूप है और न सुख का आश्रय है" तार्किकों का यह सिद्धान्त है। 'क्लेश कर्म,

तिरूपो न सुखरूप इति पातञ्जलाः तदेवं नाद्वितीय ईश्वरो। नापि सुखस्वरूप इत्याशङ्क्य तस्याद्वितीयपरमानन्दरूपत्वे विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणं वदन् स्तौति—

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः,
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये,
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ।।२५।।

मन इति। हे वरद! यत्किमपि तत्त्वम् इदन्तया वक्तुमशक्यं सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकं वस्त्वालोक्य वेदान्तवाक्यजन्ययाऽखण्डाकारवृत्याऽपरोक्षीकृत्य यमिनः शमदमादिसाधनासम्पन्नाः परमहंसा अन्तराह्लादं बाह्यसुखविलक्षणं निरतिशयसुखं दधति पूर्वं विद्यमानमेव धारयन्ति नतूत्पादयन्ति नित्यत्त्वात्। तत्तत्त्वं किल भवानिति। किलेति प्रसिद्धो। सत्य ज्ञानानन्तानन्दात्मकत्वेनैव श्रुतिषु प्रसिद्धो भवान्न तार्किकाद्युक्तप्रकारः। अतस्त्वं कथं परमं मङ्गलं न भवसीति वाक्यशेषः। तत्राह्लादस्य निरतिशयत्वं दर्शयितु दृष्टान्तमाह अमृतमये ह्रदे निमज्ज्येव। यस्य खलु लेशमात्रमपि दृष्ट्वा सकलसन्तापोपशमेन

कर्मफल और कर्म के संस्कारों से असम्बद्ध पुरुष विशेष ईश्वर है, वह चेतन रूप है न कि सुख रूप" यह पातञ्जल योग शास्त्र के अनुयायियों का मत है। इस प्रकार ईश्वर अद्वितीय नहीं है और न सुख रूप है। ऐसी आशङ्का कर उस परमात्मा के अद्वितीय परमानन्द स्वरूप में विद्वानों के अनुभव रूप प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए स्तुति करते हैं—

हे वरद! वेदान्त वाक्य के श्रवण मनन में तत्पर यति लोग अष्टाङ्ग योग द्वारा वायु को रोककर तथा भीतरी करण मन को हृदयाकाश में सभी वृत्तियों से शून्य कर जिस विलक्षण एक इस आनन्द रूप परब्रह्म चिन्मात्र तत्त्व का अपने भीतर ही दर्शन कर रोमाञ्चित हो जाते हैं। तथा उनके नेत्र आनन्दाश्रुओं से भर जाते हैं। उस समय मानों वे अमृत मय सागर में डुबकियां लगाकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। वह निर्गुण ब्रह्म आनन्द स्वरूप तो आप ही हैं ।।२५।।

हे वरद! जो एक कोई विलक्षण तत्त्व जिसे 'ऐसा है' इस रूप में कहा नहीं जा सकता तथा सत्य, ज्ञान अनन्त और आनन्दरूप वस्तु का दर्शन कर अर्थात् वेदान्त वाक्य से उत्पन्न होने वाली अखण्डाकार (निर्विभाग, या निर्विशेष) अन्तःकरण की वृत्ति से अपरोक्ष साक्षात्कार शम, दम आदि साधन सम्पन्न यदि परमहंस गण बाह्य विषयजन्य सुख से विलक्षण आन्तर सर्वोत्तम सुख का अनुभव करते हैं। प्रथम विद्यमान सुख का ही अनुभव करते हैं न कि उत्पन्न करते हैं। क्योंकि वह नित्य है। वह विद्वत् प्रसिद्ध तत्त्व भी तो आप ही हैं। 'किल' शब्द प्रसिद्ध अर्थ में है। अतएव सत्य, ज्ञान अनन्त आनन्दरूप से ही श्रुतियों के भीतर प्रसिद्ध है न कि तार्किक के कथन के समान (नित्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान्) अतएव आप क्यों न परम मङ्गल रूप हैं, इस प्रकार वाक्यार्थ पूर्ण है। आगे आह्लाद-आनन्द के भीतर निरतिशयता दिखाने के लिए दृष्टान्त कहा है। अमृतमय तालाब में डूबकर इत्यादि। जिसके थोड़े से गन्धमात्र (कणमात्र) भी छूकर (प्राप्तकर) समस्त

सुखिनो भवन्ति, किमुत वक्तव्यं तस्य निमज्जनरूपसर्वाङ्गसंयोगेनेति कारणातिशयात्कार्यस्याप्यतिशयः सूचितः। यद्यपि ब्रह्मानन्दस्य सर्वातिशायिनी न कोऽपि दृष्टान्तोऽस्ति तथापीषत्साम्येनापि लोकानां बुद्धिदार्ढ्यायैवमुक्तम्। एतादृशब्रह्मानन्दानुभवस्यासाधारणं कारणमाह—मन इत्यादिना। चित्ते हृदयाम्बुजे मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकमवधाय निरुध्य। वृत्तिशून्यं कृत्वेत्यर्थः। कीदृशं मनः? प्रत्यक् चक्षुरादीन्द्रियद्वारा बहिर्विषय-प्रवृत्तिप्रतिकूलतया अन्तर्मुखतयैवाञ्चतीति प्रत्यक्। कीदृशा यमिनः? सविधं सप्रकारं यथा स्यात्तथा आत्तमरुतः। शास्त्रोपदिष्टमार्गेणैव कृतप्राणायामा इत्यर्थः। अत्र सविधमित्यनेन यमनियमादिसाधनानि सूच्यन्ते। आत्तमरुत इत्यनेन चतुर्थः कुम्भकः। विषयेभ्य इन्द्रियाणां निवर्तनरूपः प्रत्याहारः प्रत्यक् पदेन सूचितः चित्त इत्यनेन हृदयाम्बुजाख्यदेशसम्बन्धात् समूहालम्बनाख्या धारणोक्ता। अवधायेत्यनेन ध्यानसमाधी। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—"देश बन्धश्चित्तस्य[१] धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता[२] ध्यानम्। [३]तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" इति। चित्तस्य वशीकरणार्थं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञाख्यचक्राणामन्यतमे देशेऽवस्थापनं धारणेत्युच्यते। प्रत्ययस्य-एकतानता (एकविषय प्रवणता) विषयः प्रवाहः। स च द्विविधः विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानः सन्ततश्चेति। तावुभौ क्रमेश ध्यान-समाधी भवतः। एतेनाष्टाङ्गयोगपरिपाको ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुर्नि-

---

१. योग सू० ३।१।   २. योग सू० ३।२।   ३. योग सू० ३।३।

सन्ताप नाश के द्वारा प्राणी सुखी हो जाते हैं, फिर उसके सम्बन्ध में कहा क्या जाय जो डुबकी लगा कर समस्त देह के सम्बन्ध से (आनन्द अनुभव करता है) इससे कारण के आधिक्य से कार्य की अधिकता सूचित है। यद्यपि ब्रह्मानन्द सभी आनन्द से ऊपर है उसके लिए कोई दृष्टान्त नहीं है तो भी थोड़ी सी समानता को लेकर साधारण जन की बुद्धि के भीतर दृढ़ करने के लिए सरोवर दृष्टान्त कहा। इस प्रकार विलक्षण ब्रह्मानन्दानुभव के विशेष कारण को "मन" इत्यादि से आगे कहा है। हृदय कमल में सङ्कल्प-विकल्प प्रधान मन को रोक कर (मन को समस्त वृत्तियों से रहित कर) के, यह अर्थ है। मन कैसा है? प्रत्यक् है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों की सहायता विना एवं बाहर विना गये ही, भीतर ही भीतर जानने में समर्थ है। यम परायण जन कैसे हैं। विधि विधान पूर्वक मन को वश में किये हुए, शास्त्र के बताये मार्ग से ही प्राणायाम करने में तत्पर है यह तात्पर्य है। यहां सविध पद से यम नियम आदि साधन सूचित किये गये हैं। आत्तमरुत पद से चौथा (रेचक पूरक रहित) कुम्भक, तथा विषयों से इन्द्रियों का निवारण करना प्रत्याहार है और वह प्रत्यक् पद से सूचित हुआ है। 'चित्त' इस पद से हृदय कमल नामक प्रदेश में (चित्त) बांधना, समूहालम्बन नामक धारणा कही गई। आधाय पद से ध्यान और समाधि का निर्देश है। इसी विषय को भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—(चित्तस्य- चित्त का किसी देश में बाँधना धारण है। (तत्र०) उसी देश में चित्तवृत्ति की एक परम्परा प्रवाह ध्यान है (तदेव०) केवल धेयमात्र की प्रतीति ही अपना स्वरूप शून्य जैसा है जिस ध्यान में वह ध्यान समाधि है, इस प्रकार चित्त को वश में करने के लिए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र इन नामों से प्रसिद्ध किसी एक चक्र के देश में स्थापित करना 'धारणा' इस शब्द से कहा जाता है। चित्त वृत्ति का एकाकार-प्रवाह एक विषय प्रवाह एकतानता है। और वह दो प्रकार है। वह एकतान-प्रवाह, रुक रुक कर उत्पन्न होता हुआ और एक धारा रूप में, ये दोनों क्रमशः ध्यान एवं समाधि है। इस कथन से अष्टाङ्ग योग की परिपाक अवस्था को

दिध्यासनरूपत्वेनोक्तः। एवं ब्रह्मानन्दानुभवस्य कारणमुक्त्वा कार्यमाहप्रहृष्यद्रोमाणः प्रकर्षेण पुलकिताङ्गाः। तथा प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः हर्षाश्रुपूर्णनेत्राः एतदुभयं च यमिनामानन्दानुभवानुमाने लिङ्गमुक्तम्। अत्र प्रशब्देनोत्सङ्गितशब्देन च लौकिकसुखापेक्षयाऽतिशयविशेषो व्यज्यते। यस्य च तत्त्वस्यालोकनमात्रेणाप्यन्ये परमाह्लादं बिभ्रति, तत्स्वयं परमाह्लादरूपं भवतीति किमु वक्तव्यमित्युक्तम् "[1]विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "[2]आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "एष [3]एव परम आनन्दः", "यो वै भूमा [4]तत्सुखम्", "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्याद्याः श्रुतयश्चास्मिन्नर्थे प्रमाणत्वेन द्रष्टव्याः। हरिपक्षेऽप्येवम् ॥२५॥

एवमद्वितीये ब्रह्मणि परमानन्दरूपे सर्वात्मके विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम्। अधुना तस्यैवाद्वतीयत्वं तर्केणापि साधयन्स्तौति—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्,
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरम्,
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥२६॥

त्वमर्क इति—हे वरद! परिणताः परिपक्ववुद्धयस्त्वयि विषय एवं परिच्छिन्नामेवंप्रकारेण परिच्छिन्नत्वेन त्वां प्रतिपादयन्तीं गिरं वाचं बिभ्रतु धारयन्तु नाम। केन रूपेण परिच्छिन्नामित्यत आह त्वमर्क

---

१. बृहदारण्यक ३।९।२८। २. भृगुवल्ली ३।६ अनुवाक।
३. छान्दोग्य ७।३२।१ ४. तैत्तिरीय २।७।

ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण निदिध्यासन रूप से कहा गया। इस भांति ब्रह्मानन्दानुभव का कारण बताकर (प्रहृष्यद्रो०) से ब्रह्मानन्दानुभव के कार्य को कहा है। प्रचुर मात्रा में रोमाञ्च युक्त अङ्ग है तथा अतिशय आनन्द से नेत्र गीले हैं। अर्थात् हर्षजन्य आंसुओं से नेत्र व्याप्त हो गये हैं जिसके। ये दोनों यमपरायणजनों के आनन्द अनुभव के अनुमान में लिङ्ग (हेतु) कहे गये। यहां प्र और (उत्सङ्गित) शब्दों से लौकिक सुख की अपेक्षा अत्यधिक वैशिष्ट्य व्यक्त होता है। जिस तत्त्व के दर्शन मात्र से साधारण लोग परम सुख का अनुभव करते हैं, जो स्वयं परमानन्द रूप होता है उसे क्या कहा जाये। (उस आनन्द की तुलना कैसे की जाए) (विज्ञान०) "ज्ञान एवं आनन्द रूप ब्रह्म है" (आनन्दो०) "आनन्द ब्रह्म है इस प्रकार जाना" (एषएव०) "यह ही परम आनन्द है" (यो वै०) "जो पूर्ण है वह सुख है" (कोह्येव०) "कौन शरीर चेष्टा करता कौन वायु को चेष्टावान् करता यदि यह आकाश आनन्द रूप न होता इत्यादि श्रुतियों को आनन्दरूप ब्रह्म में प्रमाण रूप से देखना चाहिए। यही अर्थ विष्णुपक्ष में भी है ।।२५।।

पूर्वकथित रूप से अद्वितीय परमानन्द-रूप सर्वात्मक ब्रह्म में विद्वानों का अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया। अब उसी ब्रह्म का अद्वितीयपना तर्क से सिद्ध करते हुए स्तुति करते हैं—

हे वरद! परिपक्वबुद्धि प्रौढ़ विद्वान् लोग आप सूर्य हैं, आप चन्द्र हैं, आप पवन हैं, आप अग्नि हैं, आप जल हैं, आप आकाश हैं, आप पृथ्वी हैं, और आप ही आत्मा भी हैं, इस प्रकार ऐसी परिमित अर्थ युक्त वाणी को आपके विषय में कहते रहें पर हम तो जगत् में उस वस्तु को नहीं समझते या जानते जो स्वयं साक्षात् आप न हों ।।२६।।

हे वरदानी भगवन्! परिपक्व एवं प्रौढ़ बुद्धि सम्पन्न लोग आपके विषय में परिच्छिन्न अर्थ प्रतिपादक परिच्छिन्नरूप से आपको बताने में संलग्न वाणी को धारण करते हैं तो करें। किस रूप से परिमित वाणी को (धारण करते हैं)। इस पर त्वमर्क आदि पदों से कहा है। इस

इत्यादिना। अत्र सर्वत्र त्वं शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। उशब्दोऽवधारणे त्वमित्यनेन सम्वध्यते। च शब्दः समुच्चये। इतिशब्दः समाप्तौ। अकार्दयः प्रसिद्धाः। आत्मा क्षेत्रज्ञो यजमानरूपः। एते चाष्टौ श्रीरुद्रमूर्तित्वेनागमप्रसिद्धा वक्ष्यमाणभवादि-नामाष्टकसहिताश्चतुर्थ्यन्ता नमोऽन्ता अष्टौ मन्त्रा भवन्ति ते गुरूपदेशेन ज्ञातव्याः। एतदष्टमूर्तित्वं चान्यत्राप्युक्तम्— क्षितिहुतवहक्षेत्रज्ञाम्भः प्रञ्जनचन्द्रमास्तपनवियदित्यष्टौ मूर्तीर्नमो भव विभ्रते'' इति। तेन सर्वात्मकमपि त्वामर्काद्यष्टमात्रमूर्तिं वदन्तीत्यर्थः। अत्रापरिणता इत्यस्मिन्नर्थे परिणता इति सोपहासं विभ्रत्विति लोटाननुमतावप्यनुमतिप्रकाशनात्। तेन सर्वथानुचितमेवैतदित्यर्थः। तर्हि किमुचितं ज्ञात्वा त्वयेदमनुचितमुच्यत इत्यत आह—नेत्यादिना। हि यस्मात् इह जगति तत्तत्वं वस्तु वयं न जानीमो यद्वस्तु त्वं न भवसि। त्वद्भिन्नमिति यावत्। अत्र स्वस्य प्रमाणकौशलेनोत्कर्षं ख्यापायितुं विघ्नः इति वहुवचनम्। वयं तु त्वदभिन्नत्वेनैव युक्ततया सर्व जानीम इत्यर्थः। एवं च तव सर्वात्मकत्वादर्कादिविशेषरूपाभिधानं व्यर्थमेव। तथा च श्रुतिः "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"[1], "एष[2] उ ह्येव सर्वे-देवाः" इति च सर्वदेवभेदं वारयति। नहि सदतिरिक्तं किञ्चिदुपलभ्यते सद्रूपश्चात्मा त्वमेवेति तर्केणापि सिद्धमद्धैतम्। न

१. ऋक् संहिता १।१६४।४६।

२. वृहदारण्यक १।४६।

श्लोक में अनेक बार प्रयुक्त "त्वम्" शब्द वाक्य के अलङ्कार के लिए है, "उ" शब्द निश्चय वाचक होता हुआ "त्वम्" से सम्बद्ध होता है। "च" शब्द एकत्रीकरण अर्थ में है। "इति" शब्द समाप्ति अर्थ में है। अर्क (सूर्य) आदि तो प्रसिद्ध ही है। "आत्मा" शरीररूप क्षेत्र का ज्ञाता यजमान रूप में है। ये आठ श्रीरुद्र की मूर्ति रूप में आगम (शास्त्र) प्रसिद्ध है। आगे २८वें श्लोक में प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव आदि आठ नामके सहित चतुर्थी विभक्ति युक्त "नमः" पद अन्त में प्रयुक्त होने से आठ मन्त्र होते हैं, उन्हें गुरू के मुख से जानना चाहिए ये आठ मूर्तियां दूसरी जगह भी कही गयी हैं (क्षिति०) "पृथ्वी, अग्नि, क्षेत्रज्ञ, जल, वायु, चन्द्रमा, सूर्य, आकाश। हे भव! यह आठ मूर्ति धारण करने वाले आपको नमस्कार है। यतः आप तो सर्वात्मा हैं अतः सूर्य आदि आठ मूर्तिरूप में वताते हैं, यह भाव है। यहां इस श्लोक में अपरिपक्व अर्थ में परिपक्व (परिणत) ऐसा कहना उपहास प्रतीति के लिए है, अनुमति न होने पर भी, अनुमति-प्रकाश करने के लिए लोट् लकार है। इससे अर्थ होगा कि सभी प्रकार से यह अनुचित ही है। तो फिर क्या उचित जानकर आपने ऐसा अनुचित कहने का साहस किया? इस पर "न" इत्यादि से कहा कि इस जगत् में ऐसा कुछ तत्त्व हम लोग नहीं जानते जो आप न हों अर्थात् आपसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यहां अपने में प्रमाण ज्ञान की निपुणता दिखाने के लिए "विघ्नः" यह वहुवचन क्रिया है। हम तो आपसे अभिन्न रूप युक्ति से सभी जानते हैं। इस प्रकार आपके सर्वात्मक होने से सूर्य आदि विशेष नामरूप प्रतिपादन निरर्थक ही है। इसी विषय में वेद मन्त्र हैं (इन्द्रम्०) "इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और दिव्य पंखवाले गरुड़, इस भांति एक सत् परमेश्वर को विविध प्रकार से अग्नि, यमराज, वायु रूप में प्रतिपादन करते हैं, (एष०) "यह परमात्मा ही समस्त देवता है। इस प्रकार अन्य सभी देवताओं में भेद का निवारण करते हैं। सत् से अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती और सत् रूप आत्मा तो आप ही हैं इस भांति तर्क द्वारा भी अद्वैत सिद्ध है। यदि शंका हो कि सभी प्रपञ्च के

च सर्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे घटादि ज्ञानस्यापि ब्रह्मज्ञानस्वरूपत्वात्ततोऽपि मोक्षप्रसङ्ग इति वाच्यम्। अन्यानुपरक्तचैतन्यभावस्यैव मोक्षहेतुत्वात्। घटाद्याकारज्ञानस्य चाविद्यापरिकल्पितान्योपरक्तचैतन्यविषयत्वात्। अन्योपरक्त-चैतन्यस्य च सद्रूपेण चक्षुरादिविषयत्वेऽप्यन्यानुपरक्तस्यैतस्य न वेदान्तवाक्यमात्रविषयत्वव्याघातः। ननु सर्वस्य सन्मात्रत्वेऽपि नाद्वैतसिद्धिः। भिन्नानामपि सत्ताजातियोगेन सदाकारबुद्धिविषयत्वसम्भवात्। अन्यथा द्रव्यगुणकर्मादिभेदव्यवहारोऽपि न स्यादिति चेन्न? द्रव्यं सद् गुणः सन्नित्यादिप्रतीतेर्द्रव्यत्वादिधर्मविशिष्टैकसन्मात्रविषयत्वमेव न तु द्रव्यादिधर्मिषु भिन्नेषु सत्तारूपधर्मविषयत्वम्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वात्। एकस्मिन् सति च सर्वाभिन्ने मायिकानानात्वप्रतीत्युपपत्तेः द्वौ चन्द्रावित्यत्रेव न पारमार्थिकभेदकल्पनावकाशः। तथाचायं प्रयोगः। अयं द्रव्यगुणादि भेदव्यवहारः सर्वभेदानुगतजात्यात्मकैकवस्तुमात्रावलम्बनः भेदव्यवहारत्वात् द्विचन्द्रभेदव्यवहारवदिति। तस्मान्नाचेतनं सचेतनं वा किञ्चिदपि परमात्मनो भिन्नमुपपद्यते। "स एष[1] इह प्रविष्टः" "[2]अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि" इत्यादि श्रुत्या प्रवेष्टुरविकृतस्यैव जीवरूपेण प्रवेशप्रतिपादनात् तथा "इदं[3] सर्वं यदयमात्मा" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मैकोद्भवत्वब्रह्मसामान्यब्रह्मै

१. बृहदारण्यक १।४।७।

२. छान्दोग्य ६।३।२

३. बृ० उ० २।४।६।

ब्रह्मरूप होने से घट आदि ज्ञान भी ब्रह्म ज्ञान रूप होगा और उस घट आदि ज्ञान से भी मोक्ष होगा? किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि अन्य वस्तु से असम्बद्ध शुद्ध ज्ञानाकार चैतन्य ही मोक्ष का कारण है (न कि अन्य विशेषण युक्त चेतन) तथा अन्य से विशिष्ट चेतन का सत् रूप से चक्षु आदि इन्द्रियों का चेतन विषय होने पर भी (सद् ब्रह्म वेदान्त वेद्य है) इन वेदान्त वाक्यों को ही विषय बनाना खण्डित नहीं होता। यदि सभी सत् मात्र हैं ऐसा माना जाय तव भी अद्वैत सिद्धान्त सिद्धवस्तु (अद्वैत) की सिद्धि न होगी, विभिन्न वस्तुएं भी सत्ता रूप सामान्यजाति से युक्त होकर सत्-आकाराकारिता बुद्धि का विषयत्व तो सम्भव ही है? यदि इस बुद्धि विषयता के बल पर भेद न माना जाये तो द्रव्य है, गुण है और कर्म है इस प्रकार का भेद घटित व्यवहार नहीं हो सकेगा? ऐसी शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्य है, गुण है, इस प्रकार रूप की प्रतीति से द्रव्यत्व आदि धर्म विशिष्ट एक (सत्) मात्र विषय की सिद्धि है न कि द्रव्य आदि अनेक वस्तुओं में सत्ता नामक धर्म की सिद्धि है। अनेक धर्मि-वस्तु की कल्पना की अपेक्षा एक में अनेक धर्म की कल्पना करना लघु (सरल) काम है। एक सर्व अभिन्न सत् वस्तु में माया कल्पित अनेकत्व की प्रतीति युक्ति सिद्ध है जैसे दो चन्द्रमा हैं यहां इस प्रतीति में वास्तविक भेद कल्पना की गुञ्जाइश नहीं है। वैसे ही सत् अद्वितीय में भी वास्तविक भेद कल्पना नहीं हो सकती। इस विषय में यह अनुमान प्रयोग ठीक जंचता है "यह द्रव्य है, गुण है" इत्यादि भेद व्यवहार, समस्त में अनुस्यूत जाति के समान किसी एक वस्तु के आधार पर ही है, भेद व्यवहार होने से, "दो चन्द्र हैं" इत्यादि भेद व्यवहार के समान।" अतएव चेतन एवं अचेतन कोई भी वस्तु परमात्मा से भिन्न नहीं सिद्ध हो सकती। (स एष०) "वह परमात्मा ही देह में प्रविष्ट है" (अनेन०)। "इस जीव रूप आत्मा से प्रवेश कर नाम रूप की अभिव्यक्ति करूं" इत्यादि श्रुतियों से अधिकृत परमेश्वर का ही जीव रूप में प्रवेश प्रतिपादित है। तथा (इदम्०) "जो यह दृश्य है वह समस्त यह आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों से एक ब्रह्म में ही जगत्

कप्रलयत्वादिहेतुभिरूर्णनाभ्यादिदृष्टान्तेनाकाशादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनात् "सदेव[1] सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति कण्ठत एवाद्वितीयत्वोक्तेः। एवं च सदाकारप्रत्यक्षम् भेदव्यवहारत्वलिङ्गं सार्वात्म्यश्रुत्यन्यथानुपपत्तिश्चेति प्रमाणत्रयमुक्तम् विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयाः। तस्मान्न विघ्नः इत्यादिना साध्वेवोक्तमद्वितीयत्वम्।

हरिपक्षे तु—अर्कादिशब्देन तत्तदवच्छिन्ना देवतात्मान उच्यन्ते। "य एवासावादित्ये[2] पुरुष एतदेवाहं ब्रह्मोपासे" इत्यादिनाऽजातशत्रवे दृप्तबालाकिनोपदिष्टाः बृहदारण्यके कौषीतकिब्राह्मणे च प्रसिद्धाः। परिच्छिन्नत्वादिदोषेण अब्रह्मत्वं चैषां तत्रैवाजातशत्रुणा प्रतिपादितम्। "स[3] होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू इत्येतावद्धीति नैतावता तावद् विदितं भवति" इत्यादिना। अन्यत्सर्वं समानम् ।।२६।।

एवं प्रत्यक्षनुमानार्थापत्तिभिरद्वितीयत्वं परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वेन प्रसाध्य तदेवागमेनापि साधयन्स्तौति—अथवा क्रमेण पूर्वश्लोकद्वये त्वं पदार्थं तत्पदार्थं च परिशोध्यानेन श्लोकेनाखण्डं वाक्यार्थं वदन्स्तौति—

---

१. छान्दोग्य ६।२।१।

२. कौषीतकिब्राह्मण। ३।२।

३. बृहदारण्यक २।१।१४।

उत्पन्न, प्रलीन है इत्यादि हेतुओं से एवं मकड़ी आदि दृष्टान्तों से आकाश आदि प्रपञ्च की ब्रह्म रूपता प्रतिपादित है। (सदेव०) "हे सोम्य यह महाभूतादि प्रपञ्च पहले (सृष्टि के पूर्व) एक अद्वितीय ही था" इस प्रकार स्वतः मुख से ही अद्वितीय कथन से (परमेश्वर ही सर्वाभिन्न सिद्ध है) एवं सत् आकार घटित प्रत्यक्ष सिद्ध भेद व्यवहार रूप हेतु से और सर्वात्म प्रतिपादक श्रुतियों की अन्यार्थ में अयुक्तता है इस भांति अर्थापत्ति को लेकर (प्रत्यक्ष अनुमान-अर्थापत्ति) तीन प्रमाण कहे गये। इस विषय में विस्तृत युक्तियां वेदान्त कल्पलतिका में अन्वेषण करनी चाहिए। अतः "न विध्न" इत्यादि से अद्वितीय (भेदाभाव रूप) सिद्ध ही है।

विष्णु पक्ष में तो "अर्क" आदि शब्दों से अर्क आदि पिण्ड से अवच्छिन्न (विशिष्ट) देवता कहे गये हैं। (य एवासा०) "जो यह प्रत्यक्ष अद्वितीय मण्डल में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ' इत्यादि सन्दर्भ से अजात शत्रु के प्रति दृप्त बालाकि ऋषि ने उपदेश किया है, यह 'बृहदारण्यक' तथा 'कौषीतकि' ब्राह्मण में प्रसिद्ध है। परिमितत्व आदि दोष से इनकी अब्रह्मरूपता वहीं वृहादारण्य द्वितीयाध्याये में अजातशत्रु द्वारा निम्नलिखित प्रश्नोत्तरों से प्रतिपादित है। (स होवाच०) "वह प्रसिद्ध अजातशत्रु बोला बस इतना ही जानते हो? हां इतना ही। तो फिर इतने मात्र ज्ञान से वह (ब्रह्म) नहीं जाना जा सकता है" शेष सभी समान ही हैं ।।२६।।

पूर्व श्लोक में प्रत्यक्ष अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाणों से परमात्मा का अद्वितीयत्व, सर्वात्मकत्व हेतु से सिद्ध करते हुए स्तुति करते हैं—अथवा क्रमशः श्लोकों २५।२६ में "तत्" और "त्वम्" पद के अर्थों का परिशोधन करके अग्रिम २७ श्लोक से अखण्ड वाक्यार्थ बताते हुए स्तुति करते हैं—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः,
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ।।२७।।

त्रयीमिति—हे शरणद! आर्ताभयप्रद! ओमिति पदं त्वां सर्वात्मानमाद्वितीयं गृणाति अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च प्रतिपादयति। अत एवोङ्कारस्यावयवशक्त्या वाक्यत्वेऽपि समुदायशक्त्या पङ्कजादेरिव पदत्वमुपपन्नं योगरूढिस्वीकारात्। तदस्वीकारेऽपि "[1]सुप्तिङन्तं पदम्" इति वैयाकरणपरिभाषया पदत्वं "[2]कृत्तद्धितसमासाश्च" इत्यनेन समासस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञाविधानात्सुबन्तत्वमुपपन्नमेव। कीदृशमोमिति पदम्? समस्तम् अकारोकारमकाराख्यपदत्रयकर्मधारयसमासनिष्पन्नम्। एतेन समुदायशक्तिरुक्ता। तथा व्यस्तं भिन्नम्, अकार-उकार-मकाराख्यस्वतन्त्रपदत्रयात्मकमित्यर्थः। एतेनावयवशक्तिरुक्ता। इदं च पदद्वयमभिधेयेऽपि योज्यम्। त्वां कीदृशम्? समस्तं सर्वात्मकं, तथा व्यस्तमध्यात्माधिदैवादिभेदेन भिन्नतया प्रतीयमानम्। तथा च व्यस्तमोमिति पदं व्यस्तं त्वां गृणाति, समस्तमोमिति पदं समस्तं त्वां गृणातीत्युक्तं भवति। एतदेव दर्शयति—त्रयीमित्यादिना। त्रयीं वेदत्रयं, तिस्रो वृत्तयो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या अन्तःकरणस्यावस्थाः। एतच्च विश्वतैजसप्राज्ञानामप्युपलक्षणम्। त्रिभुवनं भूर्भुवः स्वः।

---

१. पा० सू० १।४।१४।
२. पा० सू० १।२।४६।

हे शरणागत पालक! भगवन्! ॐ शब्द अपने अ, उ, म् इन अवयवों से विलग विलग ऋग्, यजुः, सामवेद, जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था, स्वर्ग, भूमि पाताल लोक, ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीन देव और स्थूल सूक्ष्म-कारण देह, विश्व-तैजम प्राज्ञ आदि के रूप में आपका ही प्रतिपादन करता है। तथा अपने अवयवों के समष्टि रूप से निर्विकार निष्कल तीन अवस्था एवं त्रिपुटियों से रहित आपके तुरीय स्वरूप की सूक्ष्म ध्वनियों से ग्रहण कर प्रतिपादन करता है ।।२७।।

हे शरणदाता! हे आर्तजनों के अभयदाता प्रभो! ॐ यह पद आपके सर्वात्म अद्वितीय रूप का प्रतिपादक है, अवयवनिष्ठ शक्ति तथा समुदायनिष्ठशक्ति द्वारा प्रतिपादन करता है। अतएव ॐकार का अवयवशक्ति से वाक्य होने पर भी समुदाय शक्ति से "पंकज" आदि के समान योग रूढ़ मानने से पदत्व सिद्ध है। यदि योगरूढ़ न भी मानें तो (सुप्ति०) "सुबन्त तिङन्त पद संज्ञक होते हैं" इस प्रकार वैयाकरण निर्वचन से पदत्व (कृत०) "कृदन्त-तद्धितान्त-समास प्रातिपदिक संज्ञक होते हैं।" इस सूत्र से समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा विहित होने से सुबन्तत्व तो सिद्ध ही है। (सुबन्त होने से पदत्व भी सिद्ध है) कैसा ॐ यह पद है? समस्त अकार-उकार-मकार नामक तीन पद का कर्मधारय समास से सिद्ध ॐ पद है। इससे ॐ पद में समुदाय शक्ति कही गई। तथा व्यस्त (ॐकार) अकार-उकार मकाराख्य-स्वतन्त्र तीन पद रूप हैं, यह अर्थ है। इस कथन से अवयव शक्ति कही गई। यह समस्त व्यस्त पद अभिधेय "त्वम्" तुमको सर्वात्म आपको, तथा आप व्यस्त अध्यात्म, अधिदैव आदि भेदों से भिन्न प्रकार से जान पड़ते हैं। इस भांति व्यस्त ॐ यह पद तुमको (आप को) कहता है, समस्त ॐ यह पद आपको कहता है, यह कहा जाता है। इसी विषयों को त्रयीम् इत्यादि के द्वारा दिखाते हैं। तीन देवता (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) तीन वृत्तियाँ अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक ये अन्तःकरण की तीन अवस्थायें। यह अवस्थाओं का कथन विश्व तैजस एवं प्राज्ञका भी उपलक्षण है। पृथिवी अन्तरिक्ष स्वर्ग ये तीन भुवन, इस रूप में यह

एतदपि विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतानामुपलक्षणम्। त्रयः सुराः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। एतच्च सृष्टिस्थितिप्रलयानामप्युपलक्षणम्। एतच्च सर्वमकाराद्यैस्त्रिभिर्वर्णैरभिदधदभिधावृत्या प्रतिपादयद्व्यस्तमित्यर्थः। एवमत्र प्रकारः, ऋग्वेदो जाग्रदवस्था भूर्लोको ब्रह्मा चेति चतुष्टयमकारार्थः। तथा यजुर्वेदः स्वप्नावस्था भुवर्लोको विष्णुश्चेति चतुष्टयमुकारार्थः। तथा सामवेदः सुषुप्तावस्था स्वर्लोको महेश्वरश्चेति चतुष्टयं मकारार्थः। इदं माण्डूक्यनृसिंहतापनीयाथर्वशिखादावन्यदप्युक्तं गुरुपदेशाज्ज्ञा-तव्यम्। अतिरहस्यत्वान्नेह सविशेषमुच्यते। तस्मादध्यात्माधिदैवाधिभूताधिवेदाधियज्ञादियावदन्यत्रोक्तमस्ति तत् सर्वमत्रोपसंहर्तव्यं न्यूनतापरिहाराय। तथा च सर्वप्रपञ्चाकारेण व्यस्तं त्वाम् अकारोकारमकारैर्व्यस्तमोमिति पदमभिदधत्त्वां गृणातीति सम्बन्धः। तथा तीर्णविकृति सर्वविकारातीतं तुरीयम् अवस्थात्रयाभिमानिविलक्षणं तव धाम स्वरूपम् अखण्डचैतन्यात्मकम्। तवेति राहोः शिर इतिवद्भेदोपचारेण षष्ठी। अणुभिर्ध्वनिभिरवरुन्धानं स्वत उच्चारयितुमशक्यैरर्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणवशेन निष्पाद्यमानैः सूक्ष्मशब्दैरवबोधं कुर्वत्प्रापयत्। समुदायशक्त्याबोधयदिति यावत्। अर्धमात्राया एकत्वेऽपि ध्वनिभिरिति बहुवचनं प्लुतोच्चारणे चिरकालमनुवृत्तायास्तस्या अनेकध्वनिरूपत्वान्न विरुद्धम्। ध्वनीनां चाणुत्वाणुतरत्वाणुतमत्वादिकं गुरुपदेशादधिगन्तव्यम्। तथा चार्धमात्रारूपेण समस्तमोमिति पदं समुदायशक्त्या सर्वविकारातीतं

त्रिभुवन निर्देश भी विराट्, हिरण्यगर्भ-अव्याकृत ईश्वर का उपलक्षण है। तीन देवता ब्रह्मा विष्णु महेश यह त्रिदेव कथन सृष्टि-स्थिति प्रलय का भी उपलक्षण है। इन समस्त पदार्थों का अकार आदि तीन वर्णों से वाच्य वृत्ति से व्यस्त रूप में प्रतिपादन करता है। इसका प्रतिपादन विभिन्न रूप से है। यहां व्यस्त रूप यह है—ऋग्वेद, जाग्रत् अवस्था पृथिवीलोक और ब्रह्मा ये चार अकार (अ) के अर्थ हैं। तथा यजुर्वेद, स्वप्न अवस्था, आन्तरिक्षलोक और विष्णु, ये चार उकार के अर्थ हैं। इसी भांति सामवेद, सुषुप्ति अवस्था, स्वर्गलोक और महेश्वर ये चार मकार के अर्थ हैं। इस विषय को माडूक्य उपनिषद्, नृसिंहोत्तर तापनीय उपनिषद्, अथर्वशिखोपनिषद् आदि में भी कहा है गुरूजनों के उपदेश से समझ लेना चाहिए। अत्यधिक गोपनीय रहस्य होने से यहां समस्त नहीं कह रहे हैं। अतएव कमी के निवारणार्थ अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, अधियज्ञ आदि जितने और कहीं ग्रन्थों में स्थित हैं उन सबको यहां उपसंहृत (समेट-एकत्र) करना चाहिए। आशय यह है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च रूप में विविध प्रकार से व्यस्त आप को अकार-उकार-मकार रूप में व्यस्त ॐ पद प्रतिपादन करता हुआ आपको ही कहता है, यह प्रतिपादन का सम्बन्ध है। तथा विकार से परे सभी विकारों से अतीत चौथा जो तीन अवस्थाओं के अभिमानी से विलक्षण आपके अखण्ड (निर्विभाग) चैतन्यात्मक स्वरूप को (तव पद से षष्ठी विभक्ति "राहु का सिर" इसके समान गौण भेद मान कर है) सूक्ष्म ध्वनियों से अवरुद्ध अर्थात् अर्ध मात्रा से स्वयं उच्चारण करने में अशक्य होने पर प्लुत उच्चारण द्वारा सिद्ध सूक्ष्म शब्दों से ज्ञान कराता हुआ समुदाय निष्ठ शक्ति से बोध कराता है। अर्ध मात्रा के एक होने पर भी ध्वनि शब्द से बहुवचन का प्रयोग प्लुत उच्चारण में अधिक समय का अनुवर्तन होने पर उसके अनेक ध्वनि सदृश होने से विरुद्ध या असङ्गत नहीं है। ध्वनियाँ अणु-अणुतर-अणुतम हैं। इनकी विशेषताओं को गुरु के उपदेश से समझना चाहिए। तथा अर्धमात्रा रूप से समस्त ॐ पद समुदाय शक्ति से सम्पूर्ण विकार रहित तुरीय स्वरूप को बताता हुआ समस्त रूप में आपको ही कहता है यह वाक्य

तुरीयं स्वरूपमभिदधत् समस्तं त्वां गृणातीति सम्बन्धः। एवं च पदार्थाभिधानमुखेनाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरर्थादुक्ता। तथाहि स्थूलप्रपञ्चोपहितचैतन्यमकारार्थः, तत्र स्थूलप्रपञ्चांशत्यागेन केवलचैतन्यमकारेण लक्ष्यते। तथा सूक्ष्मप्रपञ्चोपहितचैतन्यमुकारार्थः, तत्र सूक्ष्मप्रपञ्चांशत्यागेनोकारेणोपलक्ष्यते। तथा स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयकारणीभूतमायोपहितचैतन्यं मकारार्थः तादृशमायांशपरित्यागेन मकारेण चैतन्यमात्रं लक्ष्यते। एवं तुरीयत्वसर्वानुगतत्वोपहितचैतन्यमधर्ममात्रार्थः, तदुपाधिपरित्यागेनार्धमात्रया चैतन्यमात्रं लक्ष्यते। एवं चतुर्णां सामानाधिकरण्यादभेदबोधे परिपूर्णमद्वितीयचैतन्यमात्रमेव सर्वद्वैतोपमर्दन सिद्धं भवति। लक्षणया परित्यक्तानां चोपाधीनां मायातत्कार्यत्वेन मिथ्यात्वात्, स्वरूपाज्ञानात्मक मायातत्कार्यनिवृत्तेर्न पृथगवस्थानप्रसङ्गः। न ह्यधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरमपि तदध्यस्तमुपलभ्यते त्र्यादीनां वाक्यार्थबोधानुपयोगेऽप्युपासनायामुपयोगात्पृथगभिधानं द्रष्टव्यम्। तस्मात्सर्वद्वितीयशून्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म प्रणववाक्यार्थ इति सिद्धम्। एतच्च सर्वेषां तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानामुपलक्षणम्। तेषामपि प्रत्यगभिन्नपरिपूर्णाद्वितीयब्रह्मप्रतिपादकत्वात्। यथा च शब्दादपरोक्षनिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते। हरिपक्षेऽप्येवम् ।।२७।।

सम्बन्ध है। इस भांति पदार्थ कथन द्वारा अखण्ड वाक्यार्थ की सिद्धि अर्थात् (संक्षेप में) कही गई। जैसे निष्कर्ष रूप में प्रपञ्च उपाधि सम्बद्ध चेतन अकार का अर्थ है, उसमें स्थूल प्रपञ्च अंश को छोड़कर केवल शुद्ध चेतन मात्र अकार से लक्षित होता है। सूक्ष्म प्रपञ्चोपहि चेतन उकार का अर्थ है उसमें सूक्ष्म प्रपञ्चांश त्याग से चैतन्य लक्षित होता है। उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रपञ्चों का कारण भूत माया उपाधि विशिष्ट चेतन मकार का अर्थ है स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च कारण माया अंश को त्यागकर केवल चेतन मात्र मकार से लक्षित होता है। एवं तुरीयत्व धर्म, सर्वानुगतत्व रूप धर्म से विशिष्ट चेतन अर्ध मात्रा का वाच्यार्थ है, तुरीयत्व सर्वगतत्व उपाधि छोड़ कर अर्ध मात्रा से चेतन मात्र ही लक्षित होता है। इस भांति चारो चेतनों के लक्षक पदों का एक विषयता से अभेद बोध होने पर परिपूर्ण अद्वितीय चेतन मात्र ही समस्त द्वैतों का मर्दन (विलयन) करके सिद्ध होता है। लक्षणा से त्याग की गई उपाधियाँ माया एवं माया कार्य मात्र होने से मिथ्या हैं, स्वात्म-बोध होने से स्वात्म-रूप का अज्ञान माया तथा उसके कार्य के निवृत्त हो जाने से (उपाधियों) की अलग स्थिति नहीं हो सकती। क्योंकि आरोपित के अधिष्ठान के साक्षात् होने पर भी अधिष्ठान में अध्यस्त की उपलब्धि नहीं होती है। केवल प्रणव से अखण्ड वाक्य ज्ञान हो जाने पर वेद शास्त्र आदि अखण्ड वाक्यार्थ बोध में उपयोगी न होने पर भी उपासना में उपयुक्त हैं, अतः उनका भी अलग कथन है ऐसा समझना चाहिए। अतः समस्त निखिल द्वैत शून्य आत्मा से अभिन्न व्रह्म प्रणव वाक्य का अर्थ है यह सिद्ध हुआ। यह लक्षण प्रकरण सभी "तत्त्वमसि" (वह तू है) आदि महावाक्यों का भी उपलक्षण (संकेत) है। क्योंकि वे भी आत्माभिन्न परिपूर्ण अद्वितीय व्रह्म के प्रतिपादक हैं। इस सम्वन्ध में जैसे शब्द से भी अपरोक्ष निर्विकल्प बोध की उत्पत्ति होती है, हमने इस प्रसङ्ग को वेदान्त-कल्पलतिका ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। अतः यहां इस प्रसङ्ग से उपराम लेते हैं, (विश्राम लेते हैं)। विष्णु पक्ष में भी यही अर्थ है ।।२७।।

एवं तावदद्वितीयब्रह्मवाचकत्वेन प्रणव उपन्यस्तः, एतस्य चार्थानुसधानं जपश्च समाधिसाधनत्वेन पतञ्जलिना सूत्रितः "[1]समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" इति। "[2]ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इति सूत्रान्तरं "[3]तस्य वाचकः प्रणवः", "[4]तज्जपस्तदर्थभावनम्" इति सूत्राभ्यां प्रणवजपस्य प्रणिधानशब्दार्थत्वेन व्याख्यानात्। श्रुतौ च "[5]एतदालम्वनं श्रेष्ठमेतदालम्वनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।" इत्यादिना तस्य सर्वपुमर्थहेतुत्वमुक्तम्। एतस्यातिदुरूहार्थत्वेन स्त्रीशूद्राद्यनर्हत्वेन चासाधारणत्वात्सर्वसाधारणानि प्रसिद्धानि भगवद्वाचकानि पदानि जपार्थत्वेन वदन् स्तौति—

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां—
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ।।२८।।

भव इत्यादि—हे शरणद! हे देव! इदं यदभिधानाष्टकं

---

१. यो० सू० २।४५।
२. यो० सू० १।२३।
३. यो० सू० १।२७।
४. यो० सू० २।२७।

अभी गत श्लोक से अद्वितीय ब्रह्म के वाचक रूप में प्रणव का निर्देश किया, इसी प्रणव को अर्थानुसन्धान एवं जप समाधि का साधन मान कर भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र लिखा है (समाधि०) "ईश्वर के प्राणिधान से समाधि की सिद्धि होती है" (ईश्वर०) "अथवा ईश्वर के प्राणिधान से चित्त का निरोध होता है" यह दूसरा है। अन्यत्र भी (तस्य०) "उस ईश्वर का वाचक प्रणव है" (तज्जप०) "प्रणव का जप तथा उसके अर्थ का चिन्तन करना चाहिए" इन दोनों सूत्रों से प्रणव का जप एवं प्राणिधान शब्द की व्याख्या की है और श्रुति में तो (एतदा०) "यह प्रणव रूप आलम्बन श्रेष्ठ है" सबसे उत्तम आलम्बन यही है। इस आलम्बन को जान कर (ग्रहण कर) जो साधक जिस वस्तु की इच्छा करता है वह वस्तु (पद) उसकी होती है।" इन मन्त्रों द्वारा प्रणव को निखिल पुरुषार्थ का साधन कहा है। इस प्रणव का अर्थ कठिन होने से एवं स्त्री शूद्रादि के योग्य न होने से बहुत विशिष्ट जनों के उपयुक्त होने के कारण सभी जनों के उपयोगी प्रसिद्ध २ भगवान् के वाचक पदों को जप के लिए बताते हुए स्तुति करते हैं—

हे देव! प्रकाश स्वरूप भगवन्! जगत्सर्जन कर्ता सभी के लिए सुखकारी, दुष्टों को रुलाने में समर्थ, जीवों के स्वामी, और उसी प्रचण्ड अग्नि सदृश उग्र, महान् से भी महान् देव (महादेव) और उसी प्रकार भयङ्कर, समस्त प्राणियों का शासक इस भांति आपके जो ये आठ नाम हैं, उन प्रत्येक नामों में वेद मन्त्र प्रचुर मात्रा में विचरण करते हैं। अर्थात् वेद अतिशय प्रतिपादन करते हैं। वेदानुगामी पुराणादि भी प्रतिपादन में तत्पर हैं। परम प्रेमास्पद अपरोक्ष समस्त जगत् एवं प्राणियों के आश्रय आप (भगवान्) को कोई अन्य उपाय न पाकर केवल मन वाणी शरीर से (साष्टाङ्ग) प्रणिपात पूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥२८॥

हे शरणद! हे देव! प्रकाश स्वरूप जो यह आपके वाचक आठ

नामाष्टकम् अमुष्मिन्नभिधानाष्टके विषये प्रत्येकमेकैकशः। प्रतिनामेति यावत्। श्रुतिर्वेदः प्रविचरति प्रकर्षेण बोधकतया विचरति वर्तत इत्यर्थः। अपि शब्दात्स्मृतिपुराणागमादिकमपि। अथवा प्रणव इवामुष्मिन्नपि श्रुतिः प्रविचरतीति योज्यम्। यद्यप्यष्टाध्यायार्थकाण्डे वह्निनामत्वेनैतानि समाम्नातानि तथापि वह्नेर्भगवद्विभूतित्वात्तन्नामत्वेऽपि न भगवन्नामत्वव्याघातः। यद्वा अमुष्मिन्नामाष्टके देवानां ब्रह्मादीनामपि श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं प्रविचरति सावधानतया वर्तते। देवा अपि त्वन्नामश्रवणोत्सुकाः किं पुनरन्य इत्यर्थः। किं तन्नायाष्टमित्यत आह—भव इत्यादि। महता महच्छब्देन सह वर्तत इति सहमहान् महादेवः तथैवागमप्रसिद्धः। इति शब्दः समाप्त्यर्थः। यस्य च नाममात्रमपि सर्वपुरुषार्थप्रदम् स पुनः स्वयं कीदृश इति भक्त्युद्रेकेण प्रणमति। प्रियायेत्यादिना। अस्मै स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन सर्वदाऽपरोक्षाय भवते महेश्वराय। कीदृशाय? धाम्ने सर्वेषां शरणभूताय चिद्रूपायेति वा। योग्यमुपचारं किमपि कर्तुमशक्नुवन्नहं केवलं प्रविहितनमस्योऽस्मि, प्रकर्षेण वाङ्मनः कायव्यापारातिशयेन विहिता नमस्या नमस्क्रिया येन स तथा (केवलं तुभ्यं कृतनमस्कारो भवामीत्यर्थः।) प्रणिहितेति पाठेऽप्येवमेवार्थः।

हरिपक्षेऽप्येवम्। भवादीनां च हरिनामत्वं योगवृत्या सम्भवत्येव सहस्त्रनामस्तुतिपठितत्वाच्चेति द्रष्टव्यम्। अथवा यदिदमभिधानाष्टकम् अमुष्मिन्प्रत्येकं देवश्रुतिरपि देवशब्दोऽपि प्रविचरति सम्बद्धो भवति। तथा च भवदेव इत्यादिरूपं तव रहस्यानामाष्टकमित्यर्थः। तथा च

नाम हैं उन आठों नामों के प्रतिपादन में प्रत्येक नाम में क्रमशः एक एक नाम में वेद-वाक्य विचरण करते हैं। अर्थात् विशेष तत्परता से बोधक होकर प्रत्येक नाम के प्रति सजग हैं। स्मृति पुराण आदि सभी वेदानुगामी भी नाम के प्रतिपादक हैं। अथवा प्रणव के समान ही इन नामों का श्रुति प्रतिपादन करती हुई विहार करती है। यह जोड़ना चाहिए। यद्यपि रुद्रपरक अष्टाध्यायी में निरुक्त ये नाम अग्नि के नाम से व्याख्यान किये गये हैं फिर भी अग्नि तो भगवान् की विभूति है अतः अग्नि नाम होने पर भी भगवत् नाम होना विरुद्ध नहीं है। अथवा इन आठों नामों में ब्रह्मा आदि देवताओं की श्रवण इन्द्रियाँ भी विहार करती हैं, सावधान हो आपके नाम स्मरण में तत्पर रहती हैं। आशय है कि देवता भी आपके नाम श्रवण में उत्कण्ठित रहते हैं अन्य के लिए कहना ही क्या। वे आठ नाम कौन हैं महादेव (क्योंकि) महादेव नाम शास्त्रों से प्रसिद्ध है। "इति" शब्द समाप्ति के अर्थ में है। जिसका नाम मात्र भी अखिल पुरुषार्थ दायक है, फिर वह किस प्रकार का होगा। इसलिए भक्ति के आवेश में "प्रियाय" इत्यादि पदों से नमस्कार करते हैं। इस स्वयं प्रकाश चेतन रूप सदा अपरोक्ष रहने वाले भगवान् महादेव को (नमस्कार है) कैसे महादेव को? समस्त चराचर के आश्रय रूप एवं चित्त रूप के लिए नमन करता हूँ। कोई उचित उपाय (सेवा पूजा आदि) करने में असमर्थ होता हुआ मैं केवल विधिवत् नमस्कार करता हूँ। अतिशय प्रेम पूर्ण वाणी, मन, शरीर के विशेष व्यापार (दण्डवत् भूमि में पड़कर) नमस्कार करने में लगा हूँ। (केवल आपके लिए नमस्कार ही करता हूँ यह अर्थ है) किसी पुस्तक में प्राणिहित पाठ है उसका भी ऐसा ही अर्थ है।

विष्णु पक्ष में भी यही अर्थ है। भव आदि पदों का विष्णु के नाम में यौगिक रूप से सम्भव ही है और विष्णु सहस्र नाम स्तोत्र में इन नामों का पाठ है ही, यह समझना चाहिए। अथवा जो ये आठ नाम हैं उनमें प्रत्येक नाम में देव श्रवण है अर्थात् देव शब्द भी सम्बन्धित

भवस्य रुद्रस्यापि देव आराध्य इत्यर्थः। एवमन्येष्वपि नामसु द्रष्टव्यम् ।।२८।।

एवं जातभक्त्युद्रेको नमस्कारमेवानुवर्तयन् दुरूहमहिमत्वेन भगवन्तं स्तौति–

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो,
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति सर्वाय च नमः ।।२९।।

नम इति—हे प्रियदव! अभीष्टनिर्जनवनविहार! ते तुभ्यं नेदिष्ठायात्यन्तनिकटवर्तिने दविष्ठायात्यन्तदूरवर्तिने च नमो नमः। हे स्मरहर! कामान्तक! क्षोदिष्ठाय क्षुद्रतराय महिष्ठाय महत्तराय च तुभ्यं नमो नमः। तथा हे त्रिनयन! त्रिनेत्र! वर्षिष्ठाय अतिवृद्धाय वृद्धतरायेति वा, यविष्ठाय युवतमाय च तुभ्यं नमो नमः। एवमत्यन्तविरुद्धस्वभावस्याल्पबुद्धिभिः कथमपि स्वरूपनिर्णयासम्भवात्सर्वदा नमस्कार एव करणीय इति प्रदर्शनाय नमस्कारशव्दावृत्तिः। तथा च श्रुतिः—"[1]दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च", "[2]अणोरणीयान्महतो महीयान्", "[3]त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेनाञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।" इत्यादि। तथा वहुना सर्वस्मै सर्वरूपाय तुभ्यं नमः।

---

१. मुण्डक ३।१।७।
२. कठ २।२०।
३. श्वेता ४।३।

जुटता है। इससे भव-देव इत्यादि आपके आठ रहस्य नाम बनते हैं, यह आशय है। अतएव भव रुद्र के भी देव आराध्य हैं यह अर्थ होगा। इसी भांति अन्य नामों में भी समझना चाहिए ।।२८।।

इस प्रकार भक्ति के आवेश की वृद्धि में नमस्कार की पुनरावृत्ति करते हुए अपार महिमा सम्पन्न भगवान् का स्तवन करते हैं—

हे एकान्तवनप्रिय! नाथ! अति समीपस्थ प्रभो! आपके लिए नमस्कार है, एवं अत्यन्त दूर निवासी आपको नमस्कार है। हे कामदहन! सूक्ष्म से सूक्ष्म आपको नमन करता हूँ तथा महान् से भी महान् आपको नमन करता हूँ। हे त्रिनेत्र! प्रभो! वृद्ध से भी अतिवृद्ध स्थाणु रूप आपके लिए नमस्कार है तथा युवा से भी युवा (सदा युवा बने रहने वाले) भगवन्! आपको नमस्कार है। सर्वस्वरूप आपको नमस्कार है एवं परोक्ष, प्रत्यक्षरूप से निर्देश के परे सभी के अधिष्ठान आपको नमस्कार है ।।२९।।

हे रमणीक एकान्तवन विहार प्रिय! अत्यन्त समीप निवासी तथा अत्यन्त दूर से भी दूर निवासी आपके लिए नमस्कार है, नमस्कार है। हे स्मरहर! हे कामान्तक! छोटे से छोटे एवं महान् से भी महान् आपको नमस्कार है, नमस्कार है। तथा हे त्रिनयन त्र्यम्बक! वृद्ध से भी वृद्ध अतिशयवृद्धतर और युवा के भी युवा स्वभाव आपके लिए नमन है, नमन है। पूर्व रीति से (वृद्ध युवा आदि स्वभाव से) अत्यन्त विपरीत स्वभाव के होने से अल्प बुद्धिजनों द्वारा किसी भी प्रकार भगवत्स्वरूप निर्णय सम्भव न होने से सर्वदा नमस्कार ही करना योग्य है, यह दिखाने के लिए नमस्कार शब्द की बार-बार आवृत्ति की है। इन प्रसङ्गों में (दूरात्०) "अणु से भी अणु, महान् से भी महान् है" (त्व०) "तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार तथा कुमारी हो, तुम जरायुक्त हो, दण्ड के सहारे चलते हो, तुम सर्वतः सर्वरूप से जन्मधारी होते हो।" इत्यादि श्रुति है। तथा विशेष क्या सर्वस्वरूप

"'इदं सर्वं यदयमात्मा" इति श्रुतेः। ननु तर्हि सर्वविकाराभिन्नत्वाद्विनाशित्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य, सर्वस्याध्यस्तत्वेन वास्तवभेदाभावात्सर्वबाधाधिष्ठानत्वेन च श्रुतिषु सामानाधिकरण्येन व्यपदेशादद्वितीयस्य ब्रह्मणो न विकारगन्धोऽपि सम्भाव्यत इत्यभिप्रायेण नमस्कुवन्नाह—तदिदमिति सर्वाय च नमः इति। तत्परोक्षमिदमपरोक्षमित्यनेन प्रकारेणानिर्वाच्यं सर्वं यत्र स तदिदमितिसर्वस्तस्मै। वहुव्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वान्न सर्वनामता। तेन सर्वाधिष्ठानभूताय तुभ्यं नम इत्यर्थः।

हरिपक्षेऽप्येवम्। केवलं सम्बोधनत्रयमन्यथा व्याख्येयम्। प्रियाणि वैषयिकसुखानि वैराग्योद्बोधेन दुनोति नाशयतीति प्रियदव। तथा च स्मरो वासना तं हरति स्वभक्त्युद्रेकेणेति स्मरहरः। तथा त्रयाणां लोकानां नयनवत्सर्वार्थावभासकस्त्रिनयन इति प्रागपि व्याख्यातम् ।।२९।।

अधुना पूर्वोक्तसर्वार्थसंक्षेपेण नमस्कुर्वन् स्तुतिमुपसंहरति—

वहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः,
प्रवलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः,
प्रमहसिपदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ।।३०।।

१. न उ २।४।६।

आपको नमस्कार है। (इदम्०) "यह जो समस्त दृश्यमान् है वह यह आत्मा ही है" इस श्रुति से सर्वरूप मान कर नमन है। तब तो समस्त विकारों से अभिन्न होने से विनाशी होने का प्रसङ्ग होगा? ऐसी शंका करके अखिल विश्व के अध्यस्त होने से वास्तविक भेद नहीं होता इसी से सभी बाध के अधिष्ठान रूप में, श्रुतियों में, समानाधिकरण से निर्देश होने से अद्वितीय ब्रह्म में विकार के गन्ध की भी सम्भावना नहीं है, इस अभिप्राय से नमस्कार करते हुए "वह यह इस भांति सर्व रूप आपको नमन करते हैं" ऐसा कहा है। वह है (परोक्ष है) यह है (अपरोक्ष है) इस प्रकार से निर्वचन की योग्यता जहां न हो ऐसा, वह, यह, सर्वस्वरूप के लिए (नमस्कार है) वहुब्रीहि समास में अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से सर्व शब्द सर्वनाम नहीं है, अतएव सर्वाधिष्ठान रूप आपको नमस्कार है, यह अर्थ है।

विष्णु पक्ष में भी यही पूर्वोक्त अर्थ है। यहां केवल तीन सम्बोधन पदों को दूसरे ढंग से व्याख्यान करना चाहिए। प्रिय विषय जन्य सुखों को वैराग्य जगाकर क्षीण करे या नाश करे वह प्रियदव है। तथा स्मर नाम वासना है। उसे अपनी भक्ति के आवेश से हरे वह स्मरहर है विष्णु। इसी भांति तीनों लोकों के नयन के समान सभी विषय को प्रकाशित करने से त्रिनयन विष्णु ही हुए। इस प्रकार पहले त्रिनयन शब्द की व्याख्या की है ।।२९।।

अब इस ३०वें श्लोक में पूर्वकथित सभी विषयों का संक्षेप से नमस्कार करते हुए स्तोत्र का उपसंहार करते हैं—

विश्व की उत्पत्ति के निमित्र रजोगुणाधिक ब्रह्मारूपधारी आपके लिए पुनः पुनः नमस्कार है। विश्व के संहार करने के निमित्त प्रवल तमोगुणी प्रचण्ड रुद्र रूप आपको कोटि कोटि प्रणाम है। समस्त जीवों के लिए सुखकारक सत्त्व गुण बढ़ाए मृड रूप आपको भूयो भूयः नमस्कार है। अविद्या से रहित स्वयं प्रकाश मोक्ष के लिए, त्रिगुणातीत समस्त द्वैत से रहित मङ्गलमय अद्वैत शिव को कोटिशः प्रणाम है ।।३०।।

बहलेति—विश्वोत्पत्तौ विश्वोत्पत्तिनिमित्तं बहलं तमः सत्त्वाभ्यामधिकं रजो यस्य तस्मै उद्रिक्तरजसे भवत्यस्माज्जगदिति भवो ब्रह्ममूर्तिस्तस्मै तुभ्यं नमो नमः। तथा तत्संहारे तस्य विश्वस्य संहारनिमित्तं प्रबलं सत्त्वरजोभ्यामनभिभूतमुद्रिक्तं तमो यस्य तस्मै हरतीति हरो रुद्रमूर्तिस्तस्मै नमो नमः। तथा जनानां सुखकृते सुखनिमित्तम्। कृतशब्दोऽव्ययो निमित्तवाची। सत्वस्योद्विक्तावुद्रेके रजस्तमोभ्यामाधिक्ये स्थितायेत्यर्थाल्लभ्यते। "सत्वोद्रेके" इति वा पाठः। अथवा सत्वोद्रिक्तौ जनानां सुखं करोतीति जनसुखकृत्तस्मै। यद्वा सुखस्य कृतं करणम्। भावे क्तः। तस्मिन् तन्निमित्तम्। एवं व्याख्याने प्रक्रमभङ्गदोषो न भवति पूर्वपर्यायद्वये उत्तरपर्याये च सप्तम्यन्तनिमित्तनिर्देशात्। मृडयति सुखयति मृडो विष्णुस्तस्मै पालनस्यैवोद्देश्यत्वात् क्रमभङ्गेण पश्चन्निर्देशः। एवं गुणत्रयोपाधीनत्वान्निर्गुणं प्रणमति। प्रमहसिपदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः। निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात्तन्निस्त्रैगुण्यं तस्मिन् पदे पदनीये तत्पदप्राप्तिनिमित्तम्। कीदृशे? प्रमहसि प्रकृष्टं माययानभिभूतं महो ज्योतिर्यस्मिंस्तत्तथा। सर्वोत्तमप्रकाशरूप-त्रिगुणशून्यमोक्षनिमित्तमित्यर्थः। शिवाय निस्त्रैगुण्यमङ्गलस्वरूपाय "[1]शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इति श्रुतेः। प्रमहसि पदे स्थितायेति वा। हरिपक्षेऽप्येवम् ।।३०।।

एवमस्तुत्यरूपेणैव भगवन्तं स्तुत्वा स्वस्यौद्धत्यपरिहारं "मम त्वेतां वाणीम्" इत्यत्रोपक्रान्तमुपसंहरन्नाह—

---

१. मण्डूक्य ७।

विश्व की उत्पत्ति के निमित्त तमोगुण तथा सत्वगुण से अधिक वढ़ा हुआ रजोगुण जिसके भीतर हो उस रज स्वभाव को एवं जिससे जगत् पैदा होता है ऐसे ब्रह्मा की मूर्ति आपको बार-बार नमस्कार है। तथा विश्व के संहार के निमित्त सत्वगुण रजोगुण से प्रवल तथा उन दोनों गुणों से अभिभूत न होने वाला तमोगुण जिसमें बढ़ा है उस विश्वहर्ता रुद्र मूर्ति को (अनन्त बार) नमस्कार है। उसी भांति प्राणियों के सुख के निमित्त (कृत शब्द निमित्त अर्थ में है तथा अव्यय है) सत्व के बढ़ने पर रजस्तमोगुण से अधिक होने पर, स्थिति के लिए यह अर्थात् गृहीत है। "सत्वद्रेके" यह भी कहीं पाठ है। अथवा सत्व के उद्रेक में प्राणियों को सुखकर अतः सुखकृत उस (विष्णु के लिए) अथवा सुख के कारण (भाव अर्थ में क्त प्रत्यय है) सुखनिमित्त (ऐसी निमित्तार्थ व्याख्या करने से क्रम भङ्ग दोष नहीं आता। पहले के दोनों पर्यायों में और आगे तीसरे पर्याय में सप्तमी विभक्त्यन्त निर्देश होने से) सुखी करने वाले मृड विष्णु के लिए प्रणाम है। पालन का ही उद्देश्य होने से क्रम को छोड़ कर पालन को बाद में दिखाया। इसी प्रकार तीन गुणों के बाहर निर्गुण स्वरूप को प्रणाम करते हैं। प्राप्त करने योग्य परम पद प्राप्ति के निमित्त, कैसे परमपद? उत्तम से उत्तम, माया के आवरण से रहित ज्योति जिस में है, सर्वोत्तम प्रकाश रूप त्रिगुण रहित मोक्ष कारण को, त्रिगुणातीत मङ्गल स्वरूप शिव को (नमस्कार है)। (शिवमद्वै०) "प्रपञ्चहीन शिव स्वरूप को चतुर्थ मानते हैं" यह श्रुति शिवरूप के लिए है। अथवा सर्वोच्च पद स्थित के लिए नमस्कार है। विष्णु पक्ष में भी यही अर्थ है ।।३०।।

इस प्रकार अभी तक अस्तुत्य रूप से ही भगवान् का स्तवन करके अपनी उद्धता का निराकरण जो तीसरे श्लोक से आरम्भ था उसका उपसंहार करते हुए आगे पुष्पदन्त ने कहा—

कृशपरिणतिचेतः क्लेशवश्यं क्व चेदम्,
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्,
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ।।३१।।

कृश इति?—हे वरद! सर्वाभीष्टदेत्युपसंहारे योग्यं सम्बोधनम्। तव पादयोर्मद्वाक्यपुष्पोहारं भक्तिराधात्त्वद्विषया रतिरर्पितवती। यथा पुष्पाणि मधुकरेभ्यः स्वमकरन्दं प्रयच्छन्त्यन्येषामपि दूरात् गन्धमात्रेण प्रमोदमादधति तथैतानि स्तुतिरूपाणि वाक्यानि भक्तिरसिकेभ्यो भगवन्माहात्म्यवर्णनामृतरसं प्रयच्छन्त्यन्येषामपि श्रवणमात्रेणापि वस्तुस्वाभाव्यात्सुखविशेषमादधतीति ध्वनयितुं ज्ञापयितुं वाक्यपुष्पत्वेन निरूपितम्। तथा च वाक्यान्येव पुष्पाणि तैरुपहारः पूजार्थमञ्जलिस्तमित्यर्थः। किं कृत्वा आधादित्यनेन हेतुना चकितं भीतं स्तुतेर्निवर्तमानं माममन्दीकृत्य न मन्दममन्दं कृत्वा वलात्स्तुतौ प्रवर्त्येत्यर्थः। तथा चान्यमत्या प्रवृत्तस्य मम स्खलितेऽपि क्षन्तव्यमित्यभिप्रायः। अल्पा परिणतिः परिपाको यस्यासतत्तथा। अल्पविषयमित्यर्थः। तादृशं मम चेतश्चित्तं ज्ञानं वा। तथा क्लेशानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां वश्यमायत्तम्। सर्वदा रागद्वेषादिदोपसहस्रकलुषितमित्यर्थः। क्लेशेनातिप्रयत्नेन वश्यमिति वा तेन त्वद्गुणवर्णनेऽत्यन्तायोग्यमित्यर्थः। गुणानां सीमा संख्यापरिणामयोरियत्ता तामुल्लङ्घयितुं शीलं यस्याः सा

हे वरद! अविद्या अस्मिता आदि क्लेश के अधीन अल्प शक्ति युक्त मेरा यह चित्त कहां किस योग्यता का? और अखिल गुणों की सीमा के बाहर पहुंची, त्रिकाल स्थायिनी आपकी विभूति महिमा कहां इसलिए भयाकुल ही था, पर आपकी चरण कमल चञ्चरीक भक्ति ने ही उत्साह सम्पन्न कर हमसे आपके चरणों में वाक्यरूप कुसुमों से पूर्ण अञ्जलि समर्पण कराया ।।३१।।

हे वरद! सभी मनोवञ्छित फलदाता भगवन्! उपसंहार में यह सम्बोधन उचित ही है। भक्ति ने आपके चरणों में मेरे वाक्य रूप कुसुम को चढ़ाया है। आपके लिए भक्ति ने ही समर्पण किया है। जैसे पुष्प भ्रमरों के लिए अपना पराग समर्पण करते हैं तथा अन्य (पथिकों) को दूर से केवल सुगन्ध से ही आनन्दित करते हैं, उसी भांति ये स्तोत्र रूप वाक्य भक्ति रसिकों को भगवत् माहात्म्य वर्णन रूप रसामृत देते हैं। अन्य (विचारक) या साधारण जनों को अपने स्वाभाविक माधुर्य से श्रवण मात्र से ही विशेष सुख प्रदान करते हैं इस बात को ध्वनि से बताने के लिए वाक्यों को पुष्परूप से वर्णन किया है। अतएव वाक्य ही तो पुष्प है उनसे ही उपहार में पूजा निमित्त पुष्पाञ्जलि को (अर्पण किया)। क्या करके? उपहार दिया, इसलिए भयभीत होकर स्तुति से निवृत्त होने वाले मुझे शिथिल न करती हुई, उलटे उत्साहित करती हुई, बल पूर्वक स्तुति में प्रवृत्त करके (भक्ति ने उपहार दिलाया।) इसलिए दूसरे की इच्छा से स्तोत्र में प्रवृत्त होने वाले की त्रुटि क्षमा करेंगे यह आशय है। "इति" शब्द से सूचित किये गये भय के कारण को "कृश" इत्यादि पदों से स्पष्ट किया है। कृश, स्वल्प विषयों को ग्रहण करने से अल्पज्ञ, अल्प बुद्धि युक्त मेरा अन्तःकरण या ज्ञान है। तथा वह अन्तःकरण क्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश के अधीन हो गया है। अर्थात् सदा रागद्वेष आदि हजारों दोषों से कलङ्कित अन्तःकरण है। अथवा क्लेशों ने बड़े प्रयास से वश में कर लिया है। अतः आपके गुणानुवाद के लिए अत्यन्त अयोग्य है।

गुणसीमोल्लंङ्घिनी शश्वदृद्धिः नित्या विभूतिः। तेनैतादृशदुर्वासनासहस्त्रकलुषितमित्यल्पविषयं मम मनः क्व, अनन्ता नित्या तव परमा विभूतिर्वा क्व-इत्यत्यन्ता। सम्भावना मम भयहेतुरित्यर्थः। एतदवधारणे च तव भक्तिरेव कारणमिति भक्तेरत्यन्तासम्भावितफलदानेऽपि सामर्थ्यं दर्शयति। यस्मादेवं तस्मात्सर्वापराधानविगण्य्य परमकारुणिकेन त्वया त्वद्विषया भक्तिरेव ममोद्दीपनीयेति वाक्यतात्पर्यार्थः ।।३१।।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखिनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।।३२।।

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
ग्रंथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।
सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो,
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ।।३३।।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्,
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथात्र,
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान्कीर्तिमांश्च ।।३४।।

महेशान्न परो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।।३५।।

गुणों की सीमा संख्या या नाप को पार करने के स्वभाव वाली, सदा एक समान बनी रहने में समर्थ, नित्य विभूति है। अतएव इस भांति हजारों दूषित वासनाओं से कलुषित, अल्प विषयग्राही मेरा मन कहां और अनन्त असीम नित्य आपकी अपार परम सुन्दर ऐश्वर्य विभूति कहां। बस यही अत्यन्त असम्भावना मेरे भयभीत होने में निमित्त है। इस निश्चय के द्वारा (आप की चरणभक्ति ही कारण है यह दिखाया) भक्ति के भीतर असम्भव से भी असम्भव फल प्रदान करने की शक्ति दिखायी। अतः जब भक्ति ही सभी का कारण है तब मेरे समस्त अपराधों को न गिनकर परम दयालु होकर अपने चरणों की भक्ति को ही मेरे भीतर बढ़ावें यह वाक्य का तात्पर्य है ।।३१।।

हे ईश! हे देवाधिदेव महादेव! काले पहाड़ के समान स्याही हो, सागर दवात हो, कल्पवृक्ष की डालियां लेखनी बनें और पृथिवी कागज बने, इन सभी साधनों को एकत्र कर जीवन पर्यन्त सभी कामों को छोड़ कर शारदा आपके गुणों को लिखने लगें तो भी आपके गुणों का अन्त नहीं पा सकेंगी ।।३२।।

सभी गन्धर्वों में श्रेष्ठ एवं नाम से पुष्पदन्त गन्धर्व ने देवेन्द्र दैत्येन्द्र एवं मुनीन्द्रों से समर्चित भगवान् चन्द्रमौलि जो समस्त गुणों की महिमा से पूर्ण होते हुए स्वयं निर्गुण हैं, उन सर्वनियन्ता ईश्वर के परम सुन्दर इस स्तोत्र को बड़े-बड़े छन्दों में रचा है ।।३३।

अन्तःकरण को पवित्र कर जो व्यक्ति परम भक्ति भाव से भगवान् शंकर के इस परम पवित्र स्तोत्र का प्रतिदिन पाठ करता है, वह इस मनुष्य लोक में पर्याप्त धन एवं आयु को प्राप्त करता है। पुत्र आदि परिवार तथा विमल यश को पाता है। शरीर के पात होने के अनन्तर भगवान् शङ्कर के समान होकर शिव लोक में आनन्द लीन होता है ।।३४।।

संसार में महादेव से उत्तम कोई देवता नहीं है, महिम्न स्तोत्र से श्रेष्ठ कोई स्तोत्र नहीं है, अघोर मन्त्र से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है और गुरुदेव से बढ़कर कोई दूसरा तत्त्व नहीं है ।।३५।।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः।
महिम्नस्तव पाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।३६।।

इमे ३२-३६ श्लोकाः स्तोत्रान्तर्गताः सुगमाश्चेति सर्वंभद्रम्।
हरिशङ्करयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात्।
उभयार्थतया महेदमुक्तं सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ।।१।।
यत्नतो वक्रया रीत्या, कर्तुं शक्यं विधान्तरम्।
यद्यपीह तथाप्येष ऋजुरध्वा प्रदर्शितः ।।२।।
श्लोकानुपात्तमिह न प्रसङ्गात्किञ्चिदीरितम्।
श्लोकोपात्तमपि स्तोकैरक्षरैः प्रतिपादितम् ।।३।।
महिम्नाख्यस्तुतेर्व्याख्या, प्रतिवाक्यं मनोहरा।
इयं श्रीमद्गुरोः पादपद्मयोरर्पिता मया ।।४।।
टीकान्तरं कश्चन मन्दधीरितः, सारं समुद्धृत्य करोति चेत्तदा।
शिवस्य विष्णोर्द्विजगोसुपर्वणामपि द्विषद्भावमसौ प्रपद्यते ।।५।।
भूतिभूषितदेहाय, द्विजराजेन राजते।
एकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च ।।६।।

इति श्रीमत्परमहंस श्रीमद्विश्वेश्वरसरस्वतीचरणार-
विन्द मधुपश्रीमधुसूदन सरस्वती विरचिता
महिम्नस्तुतिव्याख्या सम्पूर्णा ।।

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः,
शिशुशशिधरमौलेर्देवदेवस्य दासः।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्,
स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ।।३७।।

मन्त्र आदि की दीक्षा ग्रहण करना, दान करना, उपवास आदि तप करना, तीर्थों का पर्यटन करना, अध्ययन से ज्ञानार्जन करना, और यज्ञ आदि सभी कर्म शिव महिम्न स्तोत्र की सोलहवीं कला (भाग) को नहीं पा सकते। अर्थात् इस स्तोत्र की सोलहवीं कला की योग्यता को नहीं पा सकते ॥३६॥

ये ३२-३६ श्लोक स्तोत्र के अन्तर्गत हैं और सरल स्पष्टार्थ हैं इस भांति सर्वभद्र है।

साधारण अल्प बुद्धि जनों को भी विष्णु और शिव का अभेद ज्ञान हो इसलिए प्रयास पूर्वक इस स्तोत्र का दो अर्थ युक्त मैंने व्याख्या की है। सुबुद्धि विद्वज्जन साधुता से इसे देखें ॥१॥

यद्यपि प्रयास से टेढ़ी कुटिल रीति अपना कर दूसरी और प्रकार की व्याख्या की जा सकती है तो भी यहां स्तोत्र में यह सीधा मार्ग दिखाया है ॥२॥

श्लोकों में जो प्राप्त नहीं उसे नहीं लिया तथा प्रसङ्ग वश उपलब्ध विषय को मैंने यहां कुछ लिखा है, श्लोकों से भी प्राप्त अर्थ को थोड़े ही अक्षरों में व्याख्यान किया है ॥३॥

श्री शिव महिम्न स्तोत्र की व्याख्या का प्रत्येक वाक्य परम सुन्दर अतिमनोहर है। मैंने इसे श्रीमद्गुरुदेव के चरण कमल में (सभक्ति) समर्पण किया ॥४॥

कोई मन्द बुद्धि व्यक्ति इस व्याख्या से सार लेकर कोई दूसरी व्याख्या यदि करेगा तो वह शिव, विष्णु, ब्राह्मण, गौ और देवताओं का द्वेष करने वाला (द्वेषपात्र) हो ॥५॥

समस्त ऐश्वर्य तथा भस्म से विभूषित गात्र, द्विजरात चन्द्रमा तथा गरुड़ से शोभित, एकात्म रूप से स्थित हरि और हर को सदा (साष्टाङ्ग) प्रणाम हो ॥६॥

शेखर में किशोर चन्द्र धारण करने वाले देवों के देव महादेव का एक कुसुमदशन (पुष्पदन्त) नामक गन्धर्वराज भक्त था, वह उन शिव के क्रोध से अपनी अन्तर्ध्यान आदि शक्ति से च्युत हो गया,

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुम्,

पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः।

व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः,

स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ।।३८।।

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम्।

अनौपम्यं मनोहारि शिवमीश्वरवर्णनम् ।।३९।।

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः।

अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ।।४०।।

तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर।

यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः ।।४१।।

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेन्नरः।

सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ।।४२।।

श्री पुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन,

स्तोत्रेण किल्विषहरेण हरप्रियेण।।

कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन,

सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ।४३।।

उसके अनन्तर उसने इस परमदिव्य महिम्न स्तोत्र को बनाया, साथ ही पुनः उनकी कृपा को प्राप्त किया ।।३७।।

हाथों को जोड़ कर, मन को भगवान् शिव में अर्पित कर जो मनुष्यश्रेष्ठ देव एवं मुनीश्वरों के श्रद्धास्पद आदरणीय स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करने में अमोघ कारण पुष्पदन्त से रचित इस स्तोत्र का पाठ करता है या करेगा, वह किन्नरों से पूजा प्रशंसा प्राप्त करता हुआ भगवान् शिव के समीप पहुँचता है ।।३८।।

परम पावन, अनुपम, प्रतिपद मनोहर, एवं पुष्पदन्तरचित यह स्तोत्र आदि से अन्त पर्यन्त मङ्गलमय है, शिव (कल्याण) प्रद है और भगवान् का वर्णन है ।।३९।।

पुष्पदन्त ने परम रमणीक यह शब्दमयी अर्चना श्रीसम्पन्न भगवान् शङ्कर के चरणों में समर्पित की है इसी प्रकार मैंने भी अर्पित की है। सदा एक रस मङ्गलमय महादेव मेरे प्रति प्रसन्न हों ।।४०।।

हे महेश्वर! आप कैसे हैं इस प्रकार यथार्थ रूप को मैं नहीं जानता हूँ। हे महादेव! आप चाहे जैसे हों वैसे ही आपको सदा प्रणाम करता हूँ ।।४१।।

जो मनुष्य "शिव महिम्न स्तोत्र" का एक समय, दोनों समय, या तीनों काल में पाठ करेगा; वह समस्त पापों से छुटकारा पाकर शिवलोक को प्राप्त करेगा और शिव के साथ ही उनके बराबर महिमा प्राप्त करेगा ।।४२।।

श्रीपुष्पदन्त गन्धर्व के मुखारविन्द से प्रकट हुआ, सभी पापों का नाशक, भगवान् शङ्कर का प्रिय यह स्तोत्र कण्ठस्थ कर शान्त चित्त से पाठ करने पर सभी प्रकार से हितकर है। भूतपति सबके, समस्त प्राणियों के नाथ आशुतोष महेश इसके पाठ से बहुत प्रसन्न होते हैं ।।४३।।

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।

तत्सर्वं क्षम्यतां देव! प्रसीद परमेश्वर! ।।४४।।

हे देव! हे परमेश्वर! यदि कोई अक्षर, शब्द अथवा कोई मात्रा उच्चारण से छूट गये हों। हे दयालु भगवन् वह सब क्षम्य हो और आप सर्वदा प्रसन्न रहें ।।४४।।

-

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य म०म० श्री १०८ एतवारगिरि महाराज पूज्यपादशिष्य महामण्डलेश्वर स्वामिरघुनाथगिरिरचित

महिम्नस्तोत्रम्

की मधुसूदनी व्याख्या का भाषानुवाद समाप्त हुआ।

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
श्री अध्यात्मपीठ गोसदन, भूपतवाला कलां
हरिद्वार, उत्तर प्रदेश
पिन नं० २४९४०१
फोन नं० ४२७५४८

प्रकाशक :
श्री गिरधर गोपाल गुलाटी
युनाइटेड टावर, ५३, लीडर रोड, इलाहाबाद
फोन : ४०२९५३-५४

श्री अध्यात्मपीठ से प्राप्य ग्रन्थ

मुक्तिसोपान....हिन्दी भाषा
तत्त्वबोध ....हिन्दी संस्कृत
स्त्रियां सन्ध्या कैसे करें ... हिन्दी
तत्त्वानुसन्धान ... हिन्दी (यन्त्रस्थ)

सुलेख मुद्रणालय, ७७८ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद